

द्वितीय पाठ

प्रारंभिक चरण

परंपरागत प्रतिरोध

भारतीय जनता ने ब्रितानी शासन का प्रतिरोध उसके आरंभ से ही किया। सन् 1857 तक मुश्किल से कोई साल बीता होगा, जिसमें देश का कोई न कोई भाग सशस्त्र विद्रोह से प्रकंपित न हुआ हो। मोटे तौर पर यह क्रमबद्ध विद्रोह (जिसकी प्रकृति पूरे तौर पर परंपरागत थी) तीन रूपों में सामने आया—नागरिक विद्रोह, आदिवासियों के उपद्रव और किसानों के आंदोलन तथा विद्रोह।

नागरिक विद्रोह

भारत पर ब्रिटेन की विजय और उसके शासन की जड़ें जमाने की प्रक्रिया के साथ-साथ जनता में गंभीर असंतोष और आक्रोश उपजा। यहां तक कि ब्रितानी भारत की सेना के भारतीय सैनिकों पर उसका प्रभाव पड़ा। यह जन-असंतोष लगभग 100 वर्षों तक अधिकार-च्युत सरदारों, उनके उत्तराधिकारियों और संबंधियों, ज़मींदारों, पोलीगरों, भूतपूर्व सैनिकों, अलहकारों और भारतीय रियासतों के अनुजीवियों के नेतृत्व में सशस्त्र प्रतिरोध का रूप लेता रहा है। अपनी शिकायतों और मुसीबतों के कारण बहुत बड़ी संख्या में किसान और कारीगर इन विद्रोहों में हिस्सा लेते रहे। प्रायः वे ही इन विद्रोहों के आधार स्तंभ होते थे। ये नागरिक विद्रोह ब्रितानी शासन के बंगाल और बिहार में स्थापित होने के साथ ही शुरू हो गये थे। राजस्व की वसूली में तेज़ी लाने, ईस्ट इंडिया कंपनी और उसका मुलाजिमों द्वारा कारीगरों को शोषण और पुराने ज़मींदारों को समाप्ति ने परिस्थिति को विस्फोटक बना दिया। प्रायः हर ज़िले और सूबे में जन विद्रोह हुए।

बंगाल के कार्यविरत सैनिकों और विस्थापित किसानों ने उस मशहूर संन्यासी विद्रोह में भाग लिया था, जिसका नेतृत्व धार्मिक मठवासियों और बेदखल ज़मींदारों ने किया था। संन्यासी विद्रोह सन् 1763 से 1800 तक चला। उसके बाद सन् 1766 से 1772 तक चुआर विद्रोह चला, जिसकी व्याप्ति बंगाल और बिहार के पांच ज़िलों तक थी। सन् 1795 और 1816 के बीच चुआरों का दूसरा विद्रोह चला।

ब्रितानी शासन के देश दूसरे भागों में विस्तार के साथ भी ऐसे विद्रोहों का जन्म हुआ। उड़ीसा के ज़मींदारों का विद्रोह सन् 1804 से 1817 तक चला। दक्षिण भारत में विजयनगर के राजा ने सन् 1794 में विद्रोह किया। 18वीं शताब्दी के नवें दशक में पोलीगरों ने तमिलनाडु में, सन् 1801 में मलाबार और दिंदिगाल में, सन् 1801-05 में तटवर्ती आंध्र में और सन् 1813 से 1834 तक परलाकिमिदी में विद्रोह किया। मैसूर वालों ने सन् 1800 में और सन् 1831 में विद्रोह किया। विशाखापटनम विद्रोह सन् 1830 से 34 के बीच हुआ। त्रावणकार के दीवान बेलू ताम्पी ने सन् 1805 में विद्रोह किया। पश्चिमी भारत में सौराष्ट्र के सरदारों ने सन् 1816-32 के बीच बार-बार विद्रोह किया। गुजरात के कोलियों ने सन् 1824-25, 1828, 1839 और सन् 1849 में विद्रोह किया। महाराष्ट्र में अनेक विद्रोह हुए। वास्तविकता यह है कि यहां निरंतर विद्रोह होते रहे। सन् 1824-29 में किचूर,

सन् 1824 में कोल्हापुर, सन् 1841 में सतारा और सन् 1844 में गदकरियों के विद्रोह की चर्चा विशेष रूप से की जा सकती है। उत्तर भारत कम अशांत नहीं था। सन् 1824 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के जाटों ने गम्भीर अशांति पैदा की। सन् 1805 में बिलासपुर के राजपूतों, सन् 1814-17 में अलीगढ़ के ताल्लुकेदारों और सन् 1842 में जबलपुर के बुंदेलों ने जो विद्रोह किये, वे भी प्रमुख हैं।

वे विद्रोह जो ब्रितानी शासन के पहले 100 वर्षों के इतिहास में आदि में अंत तक व्याप्त हैं किसानों, ज़मींदारों और छोटे सरदारों के आपस के पारस्परिक संबंध और वफादारी पर आधारित थे। वे सर्वथा स्थानिक और अपनी-अपनी तरह के थे। उनमें दृष्टि पीछे की ओर थी, जिसमें राष्ट्रीयता की आधुनिक अनुभूति, उपनिवेशवाद के स्वभाव और प्रकृति या नये सामाजिक संबंधों के आधार पर बनने वाले नये समाज की आधुनिक समझ का अभाव था। उनका नेतृत्व अनिर्वायतः परंपरागत था, जिसमें उनके आस-पास की बदलती हुई दुनिया की चेतना बिल्कुल थी ही नहीं। कभी-कभी उन विद्रोहों को दबाने के लिए अंग्रेज़ों को बड़ी सेनाओं का इस्तेमाल करना पड़ा, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने ब्रितानी शासन के सामने कोई वास्तविक चुनौती नहीं रखी। उन विद्रोहों की बड़ी देन यह है कि उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने की मूल्यवान् स्थानीय परंपराएं स्थापित कीं।

परंपरागत ढंग से ब्रितानी शासन का विरोध करने की परिणति सन् 1857 के विद्रोह में हुई जिसमें किसानों, कारीगरों और सैनिकों ने लाखों की संख्या में भाग लिया। सन् 1857 का विद्रोह ब्रितानी शासन की जड़ें हिलाने के लिए काफी था।

विद्रोह की शुरुआत ईस्ट इंडिया कंपनी की फौज के सिपाहियों के गदर के साथ हुई लेकिन उसने बहुत जल्द ही व्यापक क्षेत्र के लोगों को अपनी जकड़ में ले लिया। यह जनता की विदेशी शासन के विरुद्ध वर्षों से जमी हुई शिकायतों का परिणाम था। किसान सरकार की भू-राजस्व की नीति से असंतुष्ट थे। उनकी ज़मीन चली गयी थी। वे पुलिस, छोटे अधिकारियों और निचली अदालतों के दमन और भ्रष्टाचार के शिकार थे, भारतीय समाज के उच्च और मध्यम वर्ग के लोग, (खास तौर पर उत्तरी भारत के) इसलिए विपत्तिग्रस्त हो गये थे क्योंकि उन्हें नौकरी के ऊँचे पदों से अलग कर दिया गया था। धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों-जैसे पंडितों और मौलवियों, की आमदनी खत्म हो गयी, क्योंकि उनके संरक्षक भारतीय राजाओं, राजकुमारों और ज़मींदारों के अधिकार खत्म हो गये थे। सन् 1856 में ब्रितानी सरकार ने अवध को अपने राज्य में मिला लिया। इसमें बड़े पैमाने पर लोगों में विशेषकर अवध के लोगों में काफी आक्रोश पैदा हुआ। सरकार की इस कार्रवाई से सैनिकों में क्रोध जगा, क्योंकि उनमें से अधिकांश अवध के रहने वाले थे। इसके अलावा उन्हें भूमि पर ज्यादा कर देना पड़ता था, क्योंकि उनके परिवार के लोग अवध में थे, जहां उनकी ज़मीनें थीं, ब्रितानी सरकार ने अधिकतर ताल्लुकेदारी और ज़मींदारों की जागीरें जब्त कर ली थीं। ये बेदखल ताल्लुकेदार ब्रितानी सरकार के खतरनाक विरोधी बन गये। दूसरे क्षेत्रों को अपने राज्य में मिला लेने की ब्रितानी नीति का वायसराय लार्ड डलहौज़ी ने अनुसरण किया और

उसकी जगह से भी देशी रियासतों के बहुत से राजाओं के मन में भय समा गया। इन राजाओं ने अब महसूस किया कि पूरी तरह समर्पित हो जाने और अपमानजनक ढंग से अपनी वफादारी की घोषणा के बावजूद ब्रितानी शासन उनके बने रहने का आश्वासन नहीं दे सका। विल्सन की नीति का ही यह सीधा परिणाम था कि नाना साहिब, झांसी की रानी और बहादुरशाह ब्रितानी शासन के कट्टर शत्रु हो गये। कंपनी के सैनिक अपनी कम तनखाह, कष्टप्रद जीवन और अपने अंग्रेज़ अफसरों के दुर्व्यवहार के कारण असंतुष्ट थे—उस वक्त के एक अंग्रेज़ पर्यवेक्षक ने लिखा : “सिपाही को एक बदतर जीव समझा जाता है उसके साथ भौंडा व्यवहार होता है, उसे मक्खी चूस माना जाता है। सूअर कहा जाता है कनिष्ठ लोग भी उसके साथ जानवरों जैसा सुलूक करते हैं। इसके अलावा एक सिपाही की पदोन्नति की संभावनाएं बहुत कम हैं। कोई भी भारतीय साठ-सत्तर रुपये मासिक के सुबेदार के पद से ऊपर नहीं पहुँच सकता।”

इस प्रकार सन् 1857 तक एक जनव्यापी विद्रोह की परिस्थितियां पैदा हो गयी थीं। चर्बी लगे कारतूस के प्रकरण ने चिंगारी को भड़कने का अवसर दिया। इनफील्ड राइफलों के कारतूसों में एक चर्बी लगा कागज़ होता था, जिसे इस्तेमाल के पहले दांत से काटकर निकालना पड़ता था। चर्बी कभी-कभी गो या सूअर के मांस की होती थी। इस तथ्य से सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को उभारा और उनमें क्रोध पैदा हुआ। वे विद्रोह करने के लिये तैयार हो गये। उनके विद्रोह ने भारतीय समाज के दूसरे वर्गों को भी विद्रोह का अवसर प्रदान किया।

10 मई, 1857 को दिल्ली से 36 मील दूर मेरठ में गदर शुरू हुआ और उसके बाद उत्तर में पंजाब, दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में राजपुताना और पूर्व में बिहार तक बढ़ता गया। मेरठ में सिपाहियों ने अपने अफसरों को मारा और दिल्ली के लिए रवाना हुए। दूसरी सुबह को दिल्ली में पहुंचना वहां के सिपाहियों के लिये गदर का एक संकेत था। इन सिपाहियों ने शहर पर कब्ज़ा कर लिया और बूढ़े बहादुरशाह जफर को भारत का शासक घोषित किया। इस प्रकार सिपाहियों ने गदर को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल दिया। इसके बाद सारे भारतीय सरदारों और ज़मींदारों ने विद्रोह में हिस्सा ले लिया और मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के प्रति अपनी वफादारी की शीघ्र घोषणा कर दी। जफर भारतीय एकता के प्रतीक बन गये ते।

उत्तर और मध्य भारत में हर जगह पर सिपाहियों का यह गदर जनता के विद्रोह में बदल गया। आम आदमी कुल्हाड़ी और भाले, तीर-धनुष, लाठी-दरांती और देशी बंदूकों से लड़ा। विशेष रूप से आज के उत्तर प्रदेश और बिहार में किसानों तथा कारीगरों ने उस आंदोलन में व्यापक पैमाने पर हिस्सा लिया था और उन्हीं की वजह से विद्रोह की वास्तविक शक्ति मिली थी। एक अनुमान के अनुसार अंग्रेजों से लड़ते हुए डेढ़ लाख और बिहार में एक लाख नागरिक शहीद हुए थे।

सन् 1857 के विद्रोह की शक्ति का महत्वपूर्ण पक्ष हिंदू-मुस्लिम एकता थी। सिपाहियों, आम लोगों और उनके नेताओं में हिंदुओं और मुस्लिमानों में पुरा सहयोग था। सारे विद्रोही सिपाहियों ने एक मुस्लिम, बहादुरशाह जफर को अपना सम्राट स्वीकार किया। हिंदू और मुसलमान विद्रोही सिपाहियों ने एक-दूसरे की भावना का आदर किया। प्रमाण के लिए विद्रोह जहाँ कहां भी सफल

हुआ, वहां हिंदुओं की भावनाओं के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए गोहत्या बंद करने के आदेश दिये गये—इसके अलावा सभी स्तरों पर हिंदुओं और मुसलमानों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व था। एक ऊंचे अंग्रेज़ अधिकारी ने दाद में शिकायत की, “इस मामले में हम मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ़ खड़ा नहीं कर सके।” वास्तव में सन् 1857 का विद्रोह स्पष्टतया सिद्ध करता है कि भारत की राजनीति या उसके लोग मध्यकाल में या सन् 1858 से पहले साम्प्रदायिक नहीं थे।

ब्रितानी साम्राज्यवाद सारी दुनिया में अपनी शक्ति के शिखर पर था। रियासतों के अधिसंख्य रजवाड़ों और सरदारों ने उसे मदद दी। उसकी सैनिक शक्ति विद्रोहियों के मुकाबले में कहीं बहुत बड़ी थी। विद्रोहियों में शस्त्रों से लेकर संगठन, अनुशासन और एकताबद्ध कृत-संकल्प नेतृत्व का अभाव था, इसके पहले कि विद्रोही अपनी इन कमियों पर काबू पा सकें, ब्रितानी सरकार ने अपनी अपार शक्ति और साधन का इस्तेमाल करके विद्रोह को निहायत बेरहमी से कुचल दिया। 20 सितंबर, 1857 को अंग्रेज़ों ने बहादुरशाह जफर को गिरफ्तार कर लिया और विद्रोहियों से लड़ते हुए एक के बाद एक पराजित होते गये। नाना साहिब को कानपुर में पराजित होना पड़ा। उनके एक वफादार सेनापति तांत्या टोपे ने अप्रैल, 1859 तक वीरता और कुशलता के साथ गुरिल्ला युद्ध जारी रखा। लेकिन अपने एक ज़मींदार दोस्त के विश्वासघात के शिकार हो गये। झांसी की रानी हाथ में तलवार लिये 17 जून, 1858 को लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। सन् 1859 तक बिहार के कुंवर सिंह, दिल्ली के विद्रोहियों का कुशल नेतृत्व करने वाले सिपाही बख्त खां, बरेली के खान बहादुर खां और फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला ; सभी मारे जा चुके थे। अवध की बेगम को नेपाल भागना पड़ा। सन् 1859 के अंत तक भारत पर ब्रितानी शासन पूरी तरह स्थापित हो चुका था, लेकिन विद्रोह अकारण नहीं गया था। यद्यपि भारत को बचाने का यह हताशा भरा प्रयत्न पुराने तरीके से और परंपरागत नेतृत्व में किया गया था, लेकिन वह ब्रितानी साम्राज्य से भारतीय जनता को मुक्त करने का पहला बड़ा संघर्ष था। देश में घर-घर में विद्रोही नायकों की चर्चा होने लगी। हालांकि उनके नाम की चर्चा भी ब्रितानी शासकों को अत्यंत अप्रिय लगती थी।

आदिवासी विद्रोह

भारत के बड़े भाग में आदिवासियों ने सैंकड़ों विद्रोहों में हिस्सा लिया। उन्होंने उपनिवेशवादी शासन की घुसपैठ और ब्रितानी शासन के विस्तार पर आक्रोश प्रकट किया। सबसे बड़ी बात यह कि उन्हें अपने सहज और निश्चित जीवन में महाजनों, व्यापारियों तथा लगान वसूल करने वाले कृषकों की घुसपैठ पर आपत्ति थी, जो उनकी उपनिवेशित अर्थव्यवस्था और शोषण के प्रभाव तथा शासन के अंतर्गत उनको लाने में सहायक थे। आदिवासियों का विद्रोह उनके अथक साहस और बलिदान तथा सरकारी मशीनरी द्वारा उन्हें क्रूर ढंग से दबा देने, दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है। एक तरफ आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से युक्त ब्रितानी भारत की अनुशासिक सेनाएं थीं, और दूसरी तरफ तीर-धनुष और टांगियों जैसे आदिकालीन हथियारों वाले आदिवासी। वे क्रुद्ध थे; गलत ढंग से संगठित थे; और गैर-बराबरी की लड़ाइयों में लाखों की संख्या में मारे गये। उनके अनेक विद्रोहों में से, सन् 1820 से 1837 का कोलों का, 1855-56 का संथालों का, 1879 का रम्पाओं का और

1895-1901 और 1895-1901 का मुंडाओं का विद्रोह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

किसान आंदोलन और विद्रोह

औपनिवेशिक शोषण का मुख्य आघात भारतीय किसानों को सहना पड़ा और उन्होंने अंततः हर कदम पर उससे संघर्ष किया। किसानों ने ब्रितानी उपनिवेशवाद का जो प्रतिरोध किया, उसके विवरण, दुर्भाग्यश आसानी से उपलब्ध नहीं है। भारत में ऐतिहासिक अध्ययनशीलता की दुर्बलताओं के कारण वे अभी भी सरकारी पुरालेख संग्रहालयों या आधुनिक इतिहास को संजोने वाली अन्य जगहों में बंद पड़े हैं। इतना ही नहीं, सरकारी दस्तावेजों में इन किसान विद्रोहों को डकैती या उच्छृंखलता का काम बताया गया। ब्रितानी शासन का प्रतिरोध करने वाले किसानों के अनेक कार्यों की प्रारंभिक झलक पा लेने की कोशिश अभी हमने पिछले कुछ वर्षों से ही शुरू की है।

जैसा कि हमने पहले ही देखा; ज़मींदारों और छोटे सरदारों के नेतृत्व में होने वाले नागरिक विद्रोहों के आधार स्तंभ किसान ही थे। सन् 1857 के विद्रोह के बारे में भी यह बात सर्वाधिक सच है। किसान विद्रोह का एक दूसरा स्वरूप भी था, जिसकी रंगत धार्मिक थी। वे धार्मिक सुधार और शुद्धि के आंदोलन के रूप में शुरू हुए थे, लेकिन उन्होंने शीघ्र ही, बिना इस बात का ख्याल किये कि ज़मींदार, भू-स्वामी और महाजन किस धर्म के हैं; उन पर सीधा आक्रमण करना शुरू कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि आंदोलन की जड़ें ज़मीन से ही (धर्म से नहीं) निकलती है। अंत में वे ब्रितानी साम्राज्यवाद से टकराये। ऐसा था स्वरूप। प्रमाण के लिए वहाबी आंदोलन (जिसने एक वक्त में बंगाल, बिहार, पंजाब और मद्रास को समेट लिया था) बंगाल का फरजी आंदोलन और पंजाब का कूका विद्रोह।

सन् 1858 के बाद ब्रितानी शासन के किसानों के प्रतिरोध की प्रकृति में एक खास किस्म का बदलाव आया। अब किसानों ने सीधे-सीधे अपनी मांगों के लिए सरकार, चाय बागानों के विदेशी मालिकों और देशी ज़मींदार-महाजनों के विरुद्ध लड़ाई शुरू की।

सन् 1859-60 का नील आंदोलन आधुनिक दौर के बड़े किसान आंदोलनों में से एक हैं, जिसने बंगाल को अपनी चपेट में ले लिया था। नील की खेती पर यूरोपीय किसानों का एकमात्र अधिकार था। विदेशी लोग किसानों को नील उगाने के लिए मजबूर करते थे और उन्हें अपने अकथनीय दमन का शिकार बनाते थे। उन्हें गैर-कानूनी मारपीट तथा रोके रखे का सहारा लेकर अलाभकारी दर पर नील का उत्पादन करने के लिए मजबूर करते थे। सन् 1860 में प्रकाशित प्रसिद्ध बंगाली लेखक दीनबंधु मिश्र के नाटक नील दर्पण में इस दमन का स्पष्ट चित्रण है। सन् 1859 में किसानों के आक्रोश का विस्फोट हुआ। उन्होंने एक साथ ही हज़ारों-लाखों की संख्या में नील का उत्पादन करने से इंकार कर दिया तथा बागवानों और उनके सशस्त्र अनुजीवियों की मारपीट और हिंसा का डटकर मुकाबला किया। इस अवसर पर बंगाल का शिक्षित वर्ग सामने आया और उसने विद्रोही किसानों के समर्थन में एक प्रबल आंदोलन संगठित किया। सरकार एक ऐसा आयोग नियुक्त करने को विवश हुई, जो इस प्रणाली में व्याप्त बुराइयों को कम करने के सुझाव दे सके। लेकिन बागवानों का दमन और किसानों के प्रतिरोध जारी रहे। सन् 1866-68 में दरभंगा और चंपारण में बिहार के नील उत्पादक

किसानों ने बड़े पैमाने पर विद्रोह किया। इसी तरह सन् 1883 और 1889-90 में जैसोर (बंगाल) के किसानों ने विद्रोह किया।

19वीं शताब्दी के सातवें दशक में एक बार फिर भूमि संबंधी अशांति फैली। इस बार की जगह पूर्वी बंगाल थी। वहां के प्रभावशाली ज़मींदार काश्तकारों का दमन करने में कुख्यात थे। उन्होंने बेदखली, फसल और चलसंपत्ति को गैरकानूनी ढंग से हथियाने, तंग और परेशान करने, बड़े पैमाने पर शक्ति का इस्तेमाल करके लगान बढ़ाने और काश्तकारों को खेत पर कब्जा करने के उनके हक से वंचित करने के तरीकों का खुलकर सहारा लिया। बंगाली किसानों की भी प्रतिरोध की एक लंबी परंपरा थी, जिसका आरंभ सन् 1782 में तब हुआ था जब उत्तर बंगाल के किसानों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के मालगुजार देवी सिंह के खिलाफ विद्रोह किया था। सन् 1872-76 में वे 'लगान न देने' के लिए गठित संघों में एकबद्ध हुए और पूर्व बंगाल के विभिन्न भागों में ज़मींदारों और उनके सिरवारों (अधिकर्ताओं) पर आक्रमण किए। किसानों का प्रतिरोध केवल तब कम हुआ, जब सरकार ने हस्तक्षेप करके उसे दबाने के प्रभावशाली कदम उठाये लेकिन इसके बावजूद आने वाले वर्षों में छुटपुट प्रतिरोध चले रहे। वे केवल तब खत्म हुए, जब सरकार ने ज़मींदारों के दमन से किसानों को बचाने के लिए कानून बनाने का वायदा किया। एक बार फिर बहुत बड़ी संख्या में नये शिक्षित वर्ग ने किसानों को समर्थन दिया।

ज़मीन संबंधी एक बड़ा उपद्रव सन् 1875 में महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिलों में हुआ। महाराष्ट्र में सरकार ने राजस्व का बंदोबस्त सीधे किसानों के साथ कर दिया था। लेकिन इसी के साथ सरकार की लगान की मांग इतनी ऊंची दर पर थी कि अधिकतर किसानों के लिए उसका भुगतान महाजनों से कर्ज लिए बिना असंभव था। ये महाजन ऊँची दर पर सूद लेते थे; अधिक से अधिक ज़मीन पर अपनी जकड़ मज़बूत बनाये रखने के लिए हर संभव कानूनी, गैरकानूनी हथकंडे और फरेब का सहारा लेता था। सन् 1874 के अंत तक पहुंचते-पहुंचते किसानों का धैर्य टूट गया। पूना और अहमदनगर जिलों के किसान महाजनों का सामाजिक बहिष्कार करने के लिए संगठित हुए। इस प्रक्रिया ने शीघ्र ही भूमि संबंधी उपद्रवों का रूप ले लिया। उन्होंने हर जगह कर्ज के दस्तावेजों और डिग्री के कागज़ों को जबरदस्ती अपने कब्जे में ले लिया और उन्हें खुलेआम आग के हवाले कर दिया। पुलिस किसानों के प्रतिरोध और रोष को दबाने में असफल रही। सरकार को पूना स्थित अपनी सारी पैदल और घुड़सवार सेना तथा तोपखाने का इस्तेमाल करना पड़ा, तब कहीं जाकर समर्थन किया। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि किसानों के दुःख का असली कारण सरकार द्वारा बहुत उंची दर पर लगान मांगना और किसानों को आसान तरीके से कर्ज दिला सकने में असफल होना है।

देश के अन्य भागों में भी किसानों ने प्रतिरोध किये। जेम्मी भू-स्वामियों के दमन से उत्तेजित होकर उत्तर केरल में मालाबार के मप्पिला किसानों ने सन् 1836 और 1854 के बीच 22 बार विद्रोह किये। मप्पिला किसानों के असंतोष की नये सिरे से अभिव्यक्ति सन् 1873-1880 के बीच के पाँच बड़े विद्रोहों में भी हुई। इस तरह से ऊँची दर पर लगान के निर्धारण के कारण सन् 1893-94 में

आसाम के मैदानी भागों में एक के बाद एक किसान विद्रोह हुए। किसानों ने बड़ी दर पर लगान देने से इंकार कर दिया। ज़मीन पर कब्ज़ा करने वाले सरकारी कर्मचारियों का संगठित होकर मुकाबला किया और लगान वसूल करने वाले कुर्कुअमीनों को मार कर भगा दिया। सरकार को किसान आंदोलन को दबाने के लिए बड़ी संख्या में सैनिक और सशस्त्र लगानी पड़ी। निर्दयापूर्वक गोली चलाने और संगीनों का इस्तेमाल कराने से बहुत से किसान मारे गये। आसाम के लोग आज भी पुलिस और सेना के उस समय के क्रूर वहशियाना बर्ताव को भूले नहीं हैं।

19वीं शताब्दी के किसी भी चरण में किसान आंदोलनों या जन विद्रोहों से भारत में अंग्रेजों की सर्वोच्चता के सामने खतरा उपस्थित नहीं हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था को उपनिवेशवाद पर आश्रित करने के बाद के असहनीय दमन और बड़े पैमाने पर बेदखली ने किसानों और आदिवासियों को झकझोर दिया है। वे आंदोलन और विद्रोह उनकी स्वाभाविक और स्वतः प्रेरित प्रतिक्रिया के परिणाम थे। वे अपना गुस्सा अक्सर उसी पर उतारते थे, जो उनके दुःख का तात्कालिक कारण दिखायी देता था। जैसे नील के बागवान, ज़मींदार या महाजन। लेकिन उन्होंने अंग्रेजों की उन कोशिशों का भी डटकर मुकाबला किया, जिसके सहारे वे कानून और व्यवस्था की रक्षा के नाम पर भूमि संबंधी औपनिवेशिक ढांचे को सहारा देना चाहते थे। अतः व्यवहार में भारत की अशिक्षित और अज्ञानी जनता ने उच्च वर्ग के नवशिक्षित भारतीयों की तुलना में उपनिवेशवाद के अभिशाप को ज्यादा अच्छी तरह समझा। लेकिन इसी के साथ-साथ वह भी निश्चित था कि उनका संघर्ष असफलता का शिकार होगा। उनका विश्वास, साहस, वीरता और अपार त्याग की इच्छा ; दुनिया भर के साधनों और अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से युक्त शक्तिशाली साम्राज्य के मुकाबले में कुछ भी नहीं थी। उनके पास कोई नयी विचारधारा नहीं थी—उपनिवेशवाद से जन्मी नयी सामाजिक शक्तियों के विश्लेषण पर आधारित कोई नया सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। उनमें समाज और जीवन जीने के नये ढंग की उस स्पष्ट अवधारणा का अभाव था, जो बड़े पैमाने पर लोगों को संगठित कर सके। यहां वहां छुटपुट और असंगठित ढंग के विद्रोह चाहे जितनी बड़ी संख्या में हुए हों; वे आधुनिक साम्राज्यवाद को पराजित नहीं कर सके। उसके लिए आधुनिक विचार और विश्लेषण पर, समाज की एक नयी दृष्टि पर, ऐसे नये आदर्शों और दलों (जो राजनीतिक कार्यों के लिए पूरे देश के स्तर पर जनता को प्रेरित कर सकें) पर आधारित आक्रमण की आवश्यकता थी। यह स्थिति 20वीं शताब्दी में तब आई, जब किसान वर्ग का असंतोष साम्राज्यवाद विरोधी व्यापक असंतोष के साथ जुड़ गया और उनके राजनीतिक कार्यकलाप राष्ट्रीय आंदोलन और आधुनिक किसान आंदोलनों के माध्यम से सामने आये। बहरहाल, 19वीं शताब्दी के जन-आंदोलन और विद्रोह निश्चय ही साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने वाली उस अपार शक्ति के द्योतक हैं, जो भारतीय जनों में ससुप्त पड़ी हुई थी।

आधुनिक राजनीति और नये राजनीतिक संगठन

19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध राजनीतिक-राष्ट्रवादी चेतना के फूलने-फलने और एक संगठित राष्ट्रीय आंदोलन के उद्भव और विकास का साक्षी है। इस दौर में भारत के नये शिक्षित वर्ग ने

राजनीतिक शिक्षा के प्रसार और देश में राजनीतिक कार्यकलाप प्रारंभ करने के लिए राजनीतिक संघों की स्थापना की। इस कार्य के लिए नये राजनीतिक विचारों यथार्थ की नयी बौद्धिक अनुभूति, संघर्ष और प्रतिरोध की नयी शक्तियों और राजनीतिक संगठन की नयी तकनीकों को आधार बनाना था। इस विचारधारा, नीति, संगठन और नेतृत्व में आये मोड़ों की अगुवाई करनी थी। क्योंकि भारतीय नये राजनीतिक कार्यकलापों से बिल्कुल अपरिचित थे, अतः यह कार्य कठिन था। यहां तक की यह धारणा भी एकदम नयी थी कि जनता अपने शासकों के विरुद्ध राजनीतिक ढंग से संगठित हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि प्रारंभ के राजनीतिक कार्यकर्ताओं और संघों की गति अपेक्षाकृत धीमी रही और साधारण जनता को आधुनिक राजनीति के घेरे में लाने में आधी शताब्दी से अधिक समय लग गया।

राजा राममोहन राय पहले भारतीय नेता थे, जिन्होंने राजनैतिक सुधार के लिए आंदोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने अखबार की स्वतंत्रता, जूरियों द्वारा मुकद्दमे की सुनवाई, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अलगाव, उच्चतर पदों पर भारतीयों की नियुक्ति, जमींदारों के दमन से प्रजा की रक्षा और भारतीय उद्योग व्यापार के विकास के लिए संघर्ष किया। उन्हें उम्मीद थी कि एक दिन ब्रितानी शासन का अंत होगा और भारत स्वतंत्र होगा। इसी को इन्होंने सार्वजनिक जीवन के अपने सारे कार्यकलापों का आधार बनाया। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में गहरी दिलचस्पी ली और हर जगह स्वाधीनता, जनतंत्र और राष्ट्रीयता के उद्देश्य का समर्थन किया। राजा राममोहन राय के स्वर्गवास के बाद उनकी परंपरा को डेरोजियस नाम के एक क्रांतिकारी बंगाली युवक ने आगे बढ़ाया। यह नाम उन्हें विख्यात आंग्ल-भारतीय शिक्षक हेनरी विनियन डेरोजियो के बाद मिला था। डेरोजियो ने अपने शिष्यों को स्वतंत्रता और देशभक्ति के उस प्रखर प्रेम की प्रेरणा दी थी, जिसका वैचारिक आधार फ्रांसीसी क्रांति, टॉम पेन और जैरमी बैथम थे। डेरोजियो ने अनेक जन-संस्थाएं आधुनिक विचारों और भारत में उनके प्रयोग पर विचार-विमर्श करने के लिए खोली थीं। उन विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक समाचारपत्र और पत्रिकाएं भी प्रकाशित कीं। अतः आधुनिक राजनीतिक चेतना के बीज 19वीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में राजा राममोहन राय और डेरोजियो द्वारा बोये गये।

भारत में पहली राजनीतिक संस्था सन् 1838 में कोलकाता में 'लैंड-होल्डर्स सोसायटी' के नाम से बनी, लेकिन इसकी शुरुआत बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदार वर्ग के हितों की रक्षा के संकीर्ण उद्देश्य से की गयी थी। सन् 1843 में बंगाल 'ब्रिटिश इंडियन सोसायटी' का गठन एक वृहत्तर राजनीतिक उद्देश्य से किया गया। सन् 1851 में 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' बनाया गया। उसके बाद सन् 1852 में 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' और 'बंबई एसोसिएशन' स्थापित हुए। पूरे देश में छोटे शहरों और कस्बों में ऐसी ही अनेक संस्थाएँ और क्लब स्थापित हुए। वे सभी भारतीय किस्म के थे और प्रायः अधिसंख्य पर धनाढ्य व्यापारियों और जमींदारों का प्रभुत्व बना रहा। उन्होंने ब्रितानी भारतीय शासन तथा ब्रितानी संसद के सामने राजनीतिक और आर्थिक मांगें रखीं और मुख्य रूप से प्रशासनिक सुधार; अधिक अनुपात में प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति, शिक्षा के प्रसार,

सरकार में भारतीयों की भागीदारी और भारतीय उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन दिलवाने के लिए कार्य किया।

सन् 1857 के विद्रोह की असफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि उच्च वर्गों (ज़मींदारों, रजवाड़ों और भू-स्वामियों) के नेतृत्व में ब्रितानी शासन के विरुद्ध चलने वाले परंपरागत राजनैतिक प्रतिरोध बिल्कुल सफल नहीं हो सकता था, और यह भी उपनिवेशवाद का प्रतिरोध अनिवार्यता नये तरीकों से होना चाहिए। दूसरे तरफ, जैसा कि हमने पहले ही देखा, ब्रितानी शासन और उसकी नीतियों की प्रकृति में सन् 1858 के बाद एक बड़ा परिवर्तन आया। वह अधिक प्रतिक्रियावादी हो गयी। भारत का शिक्षित वर्ग धीरे-धीरे लेकिन व्यापार तौर पर ब्रितानी नीतियों की पहले से अधिक आलोचना करने लगा। उसने ब्रितानी शासन की शोषण की प्रकृति को समझना शुरू किया। यह ध्यान देने की बात है कि उपनिवेशवाद संबंधी किसान वर्ग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया की तुलना में आधुनिक भारतीय शिक्षित वर्ग की प्रतिक्रिया संकोचपूर्ण, कम सशक्त और कम वैज्ञानिक थी। भारतीय शिक्षित वर्ग की समझ से विकसित होने में काफी समय लगा—लेकिन क्योंकि विचारों पर आधारित प्रक्रिया एक बार शुरू हो गयी थी, उसने साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति को गहराई में उतरकर समझा और नतीजा यह हुआ कि वह एक आधुनिक राजनीतिक कार्यकलाप में बदल गयी।

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीयों ने अनुभव किया चूंकि उस वक्त के राजनीतिक संगठनों की स्थापना संकीर्ण दृष्टि से की गयी थी, अतः वे बदली हुई परिस्थितियों में लाभकारी नहीं होंगे। उदाहरण के लिए ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन, जिसने अपने को तेज़ी के साथ ज़मींदारों के हितों से जोड़ लिया था और अंततः शासकों के साथ हो गया। लेकिन नयी राजनीति को, तीव्रतापूर्वक ब्रितानी शासन के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण पर आधारित करना था। इसीलिए उन्होंने एक नये प्रकार के राष्ट्रवादी राजनैतिक संगठन का रास्ता टटोल निकाला।

सन् 1866 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने और ब्रितानी जनता के मत को प्रभावित करने के लिए लंदन में 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' का संगठन किया। भारत के बड़े नगरों में भी उसकी शाखाएं संगठित की गयीं। दादाभाई नौरोजी शीघ्र ही अपने समकालीनों और भारत की बाद की पीढ़ियों में 'भारत के महान वृद्ध पुरुष' के रूप में परिचित होने वाले थे। उनका जन्म सन् 1825 में हुआ था। वह एक सफल व्यवसायी हुए लेकिन उन्होंने अपना सारा जीवन और संपत्ति राष्ट्रीय आंदोलन को समर्पित कर दी। उनकी सबसे बड़ी देन ब्रितानी शासन का आर्थिक विश्लेषण है। उन्होंने दिखाया कि भारत की गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन स्थानीय स्थितियों में निहित नहीं है, वरन् उसका कारण औपनिवेशिक शासन है जो भारत की पूंजी और संपत्ति को निचोड़ ले रहा था। अपने जीवन में आदि से अंत तक वे युवकों के संपर्क में रहे और निरंतर अपने चिंतन और राजनीति को परिवर्तनवादी दिशा में विकसित करते रहे। सन् 1870 में न्यायमूर्ति रानाडे, गणेश वासुदेव जोशी, एस. एच. चिपलुणकर तथा अन्य लोगों ने 'पूना सार्वजनिक सभा' का संगठन किया। सभा ने आने वाले 30 वर्षों तक सक्रिय रूप से राजनीतिक शिक्षण का कार्य किया।

सन् 1876-80 के बीच में लिटन के वायसराय होने के दौर में खुले ढंग से प्रतिक्रियावादी और

भारत विरोधी जो कदम उठाये गये, उनके कारण भारतीय राष्ट्रवादियों के कार्यकलाप की मंद गति तेज हो गयी। लंकाशायर के उत्पादनों को तुष्ट करने के लिए ब्रितानी कपड़ों पर से आयात-शुल्क की समाप्ति से अपने पैरों पर खड़ा हुए भारत के कपड़ा उद्योग में संबद्ध लोगों में ईर्ष्या जगी। अफगानिस्तान के विरुद्ध आक्रमण और विस्तारवादी युद्ध हुआ। इसके खर्च की पूर्ति की जिम्मेदारी भारतीय खजाने पर थोपी गयी। शस्त्र कानून को इस उद्देश्य से लागू किया गया कि भारतीय जनता के लिए किसी भी तरह का प्रतिरोध असंभव हो जाये और वह अपने बचाव तक के लिए अपने को प्रशिक्षित न कर सके; भारतीय भाषा प्रेम विधेयक जिसके सहारे ब्रितानी शासन की बढ़ती हुई आलोचना पर प्रतिबंध लगाने की व्यवस्था हुई। दिल्ली में उस समय शाही दरबार का आयोजन किया गया, जब लाखों की संख्या में लोग अकाल से मर रहे थे। भारतीय नागरिक सेवा की तुलनात्मक परीक्षा के लिए नियम 21 वर्ष की अधिकतम आयु को 19 वर्ष कर दिया गया और उसके फलस्वरूप भारतीयों के उस सेवा में आने की संभावना और कम हो गयी। ये सभी कदम ब्रितानी शासन के शोषक और औपनिवेशिक चरित्र की स्पष्ट अभिव्यक्ति थे। पूरे देश में एक साथ ही इन कदमों के विरोध में आयोजन हुए। स्वदेशी के सिद्धांत का पहला उपदेश 19वीं शताब्दी के सातवें दशक में, भारतीय उद्योग को ब्रितानी उत्पादकों के हमले से बचाने की पद्धति के रूप में सामने आया।

युवा भारतीय की नयी राजनीतिक मनस्थिति का दर्शन पहले बंगाल में हुआ। ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन की रूढ़िवादी और जमींदार समर्थक राजनीति उन मध्य और शिक्षित वर्ग के लोगों के अनुकूल नहीं पड़ती थी, जिन्होंने जमींदारों के मुकाबले में खड़ी होने वाली जनता की अगुवाई का दावा किया। उन्होंने इस सिद्धान्त को भी मानने से इंकार कर दिया कि भारत को अनिवार्यता: अन्त काल तक ब्रितानी शासन के अंतर्गत रहना है। उन्होंने आनंद मोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में जुलाई 1876 में 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की। इस नये संघ के आंदोलन के लिए जिस पहले मुद्दे का चुनाव किया, वह था नागरिक सेवाओं की परीक्षा पद्धति में सुधार। संघ ने सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को, आंदोलन के लिए समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से देश के दूसरे भागों में विशेष प्रतिनिधि के रूप में भेजा। संभवतया वे पहले आधुनिक भारतीय थे, जिन्हें देशव्यापी लोकप्रियता मिली। व्यापक राजनैतिक आंदोलन में आम जनता को खींचने के लिए, इंडियन एसोसिएशन के नेताओं ने काश्तकारों के अधिकारों के लिए जमींदारों के विरुद्ध और चाय बागानों के मजदूरों के अधिकारों के लिए विदेशी बागवानों के विरुद्ध आंदोलन संगठित किये। संघ ने बंगाल में विभिन्न नगरों और गांवों में तथा उसके बाहर के बहुत से शहरों में अपनी शाखाएँ खोलीं।

देश के अन्य भागों में युवा लोग भी सक्रिय थे। सन् 1884 में एम. वीरराष्ट्रवाचारी. जी. सुब्रह्मनिया अय्यर, आनंद चारलू तथा अन्य लोगों ने 'मद्रास महाजन सभा' बनाई। सन् 1885 में फिरोजशाह मेहता, के. टी. तेलंग आदि ने 'बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की स्थापना की।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीय इस तथ्य के प्रति तेजी से सजग हो रहे थे कि न केवल मेधावी पुरुषों के मिल-जुलकर बात करने और एक समानभाषी कार्यक्रम की संरचना के लिए एक

सामूहिक मंच की व्यवस्था करनी है बल्कि एक व्यापक आधार पर चलाये जाने वाले स्वतंत्रता संघर्ष के निमित्त जनता को शिक्षित करने के लिए एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। इस प्रकार के संगठन की सामाजिक आधारशिला मजबूती के साथ रख दी जा चुकी थी और पर्याप्त अनुभव भी प्राप्त किया जा चुका था। देश के विभिन्न भागों के बहुत-से भारतीयों ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की योजना पर एक के बाद एक काम करना शुरू कर दिया था। पश्चिम भारत में दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, फिरोज़शाह मेहता, के. टी. तेलंग, रहमतुल्लाह मुहम्मद सयानी, सवेरी लाल उमाशंकर याग्निक और वदरुद्दीन तैयबजी; दक्षिण भारत में जी. सुब्रह्मन्याय्यर, एस. सुब्रह्मन्याय्यर और आनंद चारलू; पूर्वी भारत में डब्ल्यू. सी. बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, आनंद मोहन बोस, लाल मोहन घोष और कालीचरण बैनर्जी इस दिशा में अग्रणी रहे। दिसंबर 1883 में 'इंडियन एसोसिएशन' ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर ही दिया था, लेकिन वह प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ था। इस विचार को अधिक ठोस रूप बंबई गुट के राष्ट्रवादी राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने दिया। उन्होंने देश के विभिन्न भागों के राजनैतिक नेताओं को दिसंबर 1885 में मुम्बई में इकट्ठा करने के ए. ओ. ह्यूम के प्रयास में समर्थन दिया। ह्यूम एक अंग्रेज़ थे, जो भारत की नागरिक सेवा से अवकाश प्राप्त कर चुके थे। इन नेताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का निश्चय किया। प्रारंभ में इसकी अध्यक्षता डब्ल्यू. सी. बैनर्जी को करनी थी।

यह कहा गया है कि कांग्रेस की स्थापना को प्रोत्साहन देने के पीछे ह्यूम का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी 'सुरक्षा नालिका' की व्यवस्था करना था, जिसके माध्यम से शिक्षित भारतीयों का बढ़ता हुआ असंतोष बाहर निकलता जाये। उन्होंने शिक्षित वर्ग के असंतुष्ट राष्ट्रवादियों और असंतुष्ट किसानों को एक साथ होने से रोकना चाहा। एक नरमपंथी राष्ट्रीय आंदोलन को संरक्षण देकर उन्होंने उम्मीद कर ली कि वे उसे नियंत्रण से बाहर जाने से बचा लेंगे—उन्होंने बाद में लिखा : “जिन लोगों ने आंदोलन को प्रारंभिक प्रेरणा दी, उनके सामने कोई और विकल्प था ही नहीं। विक्षोभ निरंतर उग्र रूप में बढ़ता जा रहा था। बजाय इसके कि उसे सतह के नीचे छोड़कर नासूर बनने दिया जाये; (और ऐसी स्थिति आने भी लगी थी) सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह हो गया कि उसे खर्चित रहने के लिए कोई बाहरी और वैधानिक रास्ता ढूँढ़ निकाला जाये।”

जो भी हो, राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का यह स्पष्टीकरण बिल्कुल अपर्याप्त और भ्रामक है। अधिक से अधिक यह कांग्रेस की स्थापना में एक सीमा तक श्री ह्यूम की भूमिका को स्पष्ट करता है। जिन देशवासियों ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए सक्रिय ढंग से काम किया, वे उन नयी सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि थे जो ब्रितानी हित के लिए भारत के शोषण का तेज़ी से विरोध कर रही थीं। उन्हें एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो भारत के राजनैतिक और आर्थिक विकास के लिए लड़ सके। वे विदेशी सरकार के 'जी हुजूर' न होकर ऊँचे चरित्र वाले देशभक्त पुरुष थे। उन्होंने श्री ह्यूम से इसलिए सहयोग किया, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके शुरू-शुरू के राजनीतिक प्रयत्न सरकारी विद्वेष के शिकार हों, उन्हें यह उम्मीद थी कि एक अवकाश

प्राप्त प्रशासक की सक्रिय उपस्थिति सरकारी संदेह को दूर करेगी। यदि श्री ह्यूम ने कांग्रेस का सहयोग एक 'सुरक्षा नालिका' (सेफ्टी वाल्व) के रूप में करना चाहा तो कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं ने भी उम्मीद की थी कि वे श्री ह्यूम का इस्तेमाल विद्युत् प्रतिरोधक (लाइटनिंग कंडक्टर) के रूप में करेंगे। बाद में सन् 1913 में गोपाल कृष्ण गोखले को इस ओर इशारा करते हुए लिखना पड़ा :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कोई भारतीय कर ही नहीं सकता था। यदि ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन प्रारंभ करने के लिए कोई भारतीय आगे आता तो अधिकारी उसे अस्तित्व में आने ही नहीं देते। यदि कांग्रेस के संस्थापक एक महान अंग्रेज़ और अवकाश प्राप्त विशिष्ट अधिकारी न होते तो, चूंकि उन दिनों राजनीतिक आंदोलन संदेह से देखा जाता था, शासन ने कोई न कोई बहाना ढूंढकर उस आंदोलन को दबा दिया होता।

किसी भी हालत में, इसमें कोई संदेह नहीं कि सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ छोटे स्तर पर; संकोचपूर्वक मंद गति से लेकिन संगठित रूप में देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष शुरू हो गया। इसे साल दर साल अपनी शक्ति को बढ़ाकर; अंततः भारतीय जनता को विदेशी सरकार के विरुद्ध चलने वाले सशक्त और जुझारू आंदोलन से संपृक्त करना था।

जो भी हो, यह मानना गलत होगा कि सन् 1805 और 1905 के बीच राष्ट्रीय चेतना का जो प्रसार हुआ, उसका एकमात्र का मुख्य माध्यम कांग्रेस ही था। उस दौर में राष्ट्रीयता को धारदार बनाने या उसे विकसित करने की अनेकों और दिशाएं थीं, बहुत से स्थानीय और प्रांतीय स्तर के राजनीतिक संगठन अनुदिन राजनीतिक आंदोलन चला रहे थे। हर वर्ष प्रांतीय सम्मेलन होते थे, जिनमें बड़ी संख्या में जनता हिस्सा लेती थी। राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने राष्ट्रीयता के प्रचारक और संगठनकर्ता का काम किया। उस समय के अधिकतर समाचारपत्र व्यापारिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि सजगतापूर्वक राष्ट्रीय कार्यकलापों के अंग के रूप में प्रकाशित किये गये। उनके स्वामियों और संपादकों को अक्सर निजी रूप में अपार त्याग करना पड़ा था। उस काल के सभी बड़े समाचार पत्रों की स्थापना राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से पहले ही हो चुकी थी। बंगाल में अमृत बाज़ार पत्रिका, इंडियन मिरर, संजीवनी और बंगाली, चेन्नई में हिंदू, स्वदेशमित्र, आंध्रप्रकाश और केरल पत्रिका; मुम्बई के मराठा, केसरी, इंदुप्रकाश और सुधारक उत्तर प्रदेश के एडवोकेट, हिंदुस्तानी और आज़ाद पंजाब के ट्रिब्यून, अखबार-ए-आम और कोहेनूर उस दौर के प्रमुख राष्ट्रीय समाचारपत्रों में से थे।

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों के क्रियाकलाप और कार्यक्रम

प्रारंभिक दौर के भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं का विश्वास था कि राजनीतिक मुक्ति के लिए सीधे संघर्ष का कार्यक्रम इतिहास की कार्यसूची में अभी नहीं था। कार्यसूची में था, राष्ट्रवादी भावना को पैदा किया जाना, उसे गहन करना, राष्ट्रवादी राजनीति के दायरे में भारतीय जनता को अधिक संख्या में लाना और उन्हें राजनीति और राजनीतिक आंदोलन तथा संघर्ष के लिए प्रशिक्षित करना। इस दृष्टि से पहला महत्वपूर्ण कार्य था राजनीतिक प्रश्नों में जनता की रुचि उत्पन्न करना और देश में जनमत का संगठन। दूसरा, देशव्यापी स्तर पर लोकप्रिय मांगों को व्यवस्थित रूप में रखना ताकि विकसित होता हुआ जनमत सारे देश का ध्यान आकर्षित कर सके। पहले चरण में, सबसे महत्वपूर्ण था

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध देशवासियों और राजनीतिक नेताओं-कार्यकर्ताओं में राष्ट्रीय एकता की भावना का जागरण। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी इस तथ्य के प्रति पूर्णतया सतर्क थे कि भारत निर्माण की प्रक्रिया में है। भारतीय राष्ट्रीयता धीरे-धीरे अस्तित्व में आ रही थी, अतः यह मानकर नहीं चला जा सकता था कि इसकी सिद्धि हो गयी है। राजनीतिक नेताओं को क्षेत्र, जाति और धर्म के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर राष्ट्रीय एकता की भावना को गहराने और विकसित करने का काम निरंतर और अनिवार्य रूप में करना ही था। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आशा की कि वह देश के विभिन्न भागों में सक्रिय राष्ट्रवादियों के बीच मित्रता के संबंधों को प्रगाढ़ करने की दिशा में एक छोटी-सी शुरुआत करेगी। प्रारंभिक दौर में राष्ट्रवादियों ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक मांगों को इस दृष्टि से तैयार किया था ताकि वे भारतीय जनता को एक महान आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठनबद्ध कर सके।

साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन

संभवतया प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक काम उनका साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन था। उन्होंने उस वक्त के आर्थिक शोषण के तीनों रूपों ; यानी व्यापार, उद्योग और वित्त पर नज़र रखी। वे अच्छी तरह समझ गये कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद के पीछे सार दृष्टि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटानी अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। उन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मूलभूत लक्षणों (यानी भारत को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता, ब्रिटानी उत्पादकों के बाज़ार तथा विदेशी पूंजी लगाने के एक क्षेत्र में बदलने) को विकसित करने के ब्रिटानी प्रयत्न का जोरदार विरोध किया। उन्होंने उपनिवेशवादी ढांचे पर खड़ी सरकार की प्रायः सभी आर्थिक नीतियों के विरोध में प्रभावशाली आंदोलन आयोजित किये। अलावा इसके, उन्होंने आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह पैरवी की कि भारत पर ब्रिटेन की आर्थिक अधीनस्थता कम की जाये-यहां तक कि उसे समाप्त कर दिया जाये।

इस दौर के राष्ट्रवादियों ने भारत की बढ़ती हुई गरीबी की चर्चा अपने लेखों और भाषणों में निरंतर की और उसे ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण से जोड़ा। दादाभाई नौरोजी ने इशारा किया कि भारतवासी 'मात्र परजीवी-दास' थे। वे अमरीकी गुलामों से भी बदतर थे, क्योंकि कम से कम उनकी देखरेख उन अमेरिकी मालिकों द्वारा की जाती थी, जिनकी वे संपत्ति थे। उन्होंने घोषणा की कि ब्रिटानी शासन, अनंतकाल तक की बढ़ता, निरंतर बढ़ता हुआ ऐसा विदेशी आक्रमण है, जो 'धीरे-धीरे लेकिन पूरी तरह देश को नष्ट' कर रहा है।

इन राष्ट्रवादियों ने परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग के विनाश और आधुनिक उद्योगों के विकास को बाधित करने वाली सरकार की आर्थिक नीतियों की निंदा की। उनमें से अधिकतर ने भारत के रेलों, उद्योगों और चाय-कॉफी के बागानों में लगाये जाने के लिए बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी के आयात का इस आधार पर विरोध किया कि उसकी वजह से भारतीय पूंजीपति दब जायेंगे, और साथ ही भारत की अर्थव्यवस्था पर उसके शासनतंत्र पर ब्रिटेन की जकड़ और मज़बूत होगी। उन्हें यकीन था कि विदेशी पूंजी के निवेश ने न केवल वर्तमान बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी एक गंभीर

आर्थिक और राजनीतिक खतरा पैदा कर दिया है। उन्होंने विदेशी पूंजी को देश से बाहर रखने के लिए सक्रिय प्रशासनिक कदम उठाने की मांग की।

गरीबी को दूर करने के मुख्य उपाय के रूप में प्रारंभिक दौर में इन राष्ट्रवादियों ने भारतीय जीवन के हर क्षेत्र को आधुनिक बनाने और खास तौर पर आधुनिक उद्योगों को विकसित करने का सुझाव दिया। लेकिन तीव्रगामी औद्योगीकरण के लिए सरकार की सक्रिय सहायता और परियात शुल्क से बचाव के लिए एक नीति की आवश्यकता थी। उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वह वित्तीय रियायतें देकर, सरकारी सहायता प्राप्त या सरकारी नियंत्रण में चलने वाले बैंकों से ऋण और जमानत दिलवाकर, तथा विदेशों से कर्ज प्राप्त करने और उस देश में लगाने की व्यवस्था करके भारतीय उद्योग की सहायता करे। क्योंकि भारतीय पूंजीपतियों में इस्पात और खान जैसे क्षेत्रों में प्रवेश कर सकने की बिल्कुल सामर्थ्य नहीं थी, लेकिन औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक था, अतः सरकार अपनी पूंजी लगाकर उस क्षेत्र के उद्योग को बढ़ावा दे। औद्योगिक-व्यापारिक सूचनाओं के एकत्रण और प्रसारण तथा तकनीकी शिक्षा को आगे बढ़ाने की व्यवस्था करें।

भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने की दृष्टि से उन राष्ट्रवादियों ने माध्यम के रूप में स्वदेशी के विचार को भी प्रचारित किया। सन् 1877 के शाही दरबार में गणेश वासुदेव जोशी हाथ की बुनी विशुद्ध खादी की पोशाक में उपस्थित हुए थे। सन् 1896 में महाराष्ट्र में एक प्रभावशाली स्वदेशी आंदोलन आयोजित किया गया था, जिमें छात्रों ने खुलेआम विदेशी कपड़ों की होली जलायी।

राष्ट्रवादियों ने सन् 1875 से 1880 के बीच आयात पर परियात शुल्क खत्म करने और सन् 1894-96 में रूपई पर आबकारी कर लगा देने के विरोध में अखिल भारतीय स्तर पर सशक्त आंदोलन चलाया। इस आंदोलन ने पूरे देश में राष्ट्रीयता की भावना को उभारने और ब्रितानी शासन के वास्तविक लक्ष्यों और उद्देश्यों की जानकारी देने में एक बड़ी भूमिका निभाई। 28 जनवरी, 1896 को पूना के केसरी ने लिखा : “*निश्चय ही भारत को एक विस्तृत चारागाह समझा जाता है, जो मात्र युरोपियों के चरने के लिए आरक्षित हैं।*” भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक भूतपूर्व अध्यक्ष पी. आनंद चारलू ने विधानमंडल में सन् 1896 में कहा, “*गो, भारत ब्रितानी सत्ता की शक्तिशाली बाहों में, विदेशी खतरे से सुरक्षित है। लेकिन उन मामलों में उसके पास कोई जवाब नहीं है, जहां एक अंग्रेज़ और भारतीय के स्वार्थ टकराते हों। एक तमिल कहावत के अनुसार यहाँ मेंड़ की सफल को खाना शुरू कर देती है।*”

प्रारंभिक दौर के नेताओं ने भू-राजस्व में हुई भारी वृद्धि को कम करने के लिए निरंतर आंदोलन चलाया। उन्होंने सरकार से राज्य द्वारा संचालित कृषि बैंकों से किसानों को कम सूद पर ऋण दिलवाने और बड़े पैमाने पर सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करने की मांग की। उनमें से कुछ ने भूमि-संबंधी उन अर्द्धसामंती रिश्तों की भी निंदा की, जिसे अंग्रेज़ बनाये रखने के प्रयत्न में थे। उन्होंने बागानों के मजदूरों की हालत में सुधार लाने के लिए आंदोलन किये। कराधान और व्यय के उस समय के स्वरूप में भी आमूल परिवर्तन करने की मांग की। उन्होंने ध्यान दिलाया कि कराधान की वर्तमान प्रणाली से गरीबों पर भारी बोझ पड़ता है, जबकि धनवान, खासकर विदेशियों पर उसका असर बहुत

कम पड़ता है। अतः उन्होंने नमक कर और अन्य करों को समाप्त करने की मांग की, जिनसे गरीब और निम्न-मध्य वर्ग के लोग बुरी तरह प्रभावित थे। उनका कहना था कि व्यय का उस वक्त का स्वरूप भारतीयों के विकास और कल्याण की अभिवृद्धि करने के बजाय ब्रिटेन की शाही आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन था। उन्होंने उस सेना पर ऊँची रकम खर्च किये जाने की निंदा की, जिसका इस्तेमाल एशिया और अफ्रीका में ब्रिटेन का आधिपत्य बनाये रखने के लिए होता था। उन्होंने उस नागरिक सेवा के खर्च पर भी आक्रमण किया, जिसके सदस्यों को देश के आर्थिक विकास के अनुपात से बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। उन्होंने निंदा की उस सरकारी नीति की जो विदेश व्यापार और रेलों के विकास की अभिवृद्धि इसलिए कर रही थी ताकि उत्पादित माल का आयात और कच्चे माल का निर्यात बढ़े। उनका कहना था कि व्यापार और यातायात की नीतियाँ इस तरह चलाई जानी चाहिए जिससे देश के भीतर आर्थिक विकास हो।

साम्राज्यवाद विरोधी आलोचना के राष्ट्रवादियों के शस्त्रगार में एक सर्वाधिक सशक्त हथियार था, 'निष्क्रमण सिद्धान्त'। उन्होंने कहा कि भारतीय धन और पूँजी का एक बड़ा भाग या तो देश के बाहर भेज दिया जाता है या उसका एकपक्षीय ढंग से कर्जों के ब्याज, भारत में लगी, ब्रितानी पूँजी की कमाई, और यहां पर सेवा करने वाले सैनिक या नागरिक अधिकारियों के वेतन और पेंशन के रूप में निर्यात कर दिया जाता है। निष्क्रमण ही विदेश द्वारा भारत के आर्थिक शोषण का प्रकट और ठोस स्वरूप था। इस निष्क्रमण पर हमला करके उन राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र के सारतत्त्व पर ही आपत्ति कर दी। यह एक प्रतीक भी था, जिसके माध्यम से आम जनता, औपनिवेशिक शोषण की स्थिति को समझ सकती थी।

उन दिनों यह दावा किया जाता था कि ब्रितानी शासन ने भारत को जानमाल की सुरक्षा का लाभ दिया। इस दावे पर आपत्ति करते हुए दादाभाई नौरोजी ने कहा :

कल्याण यह है कि भारत में जान और माल की सुरक्षा है। वास्तविकता यह है कि ऐसी कोई चीज़ नहीं है। जान और माल की सुरक्षा एक अर्थ में या एक तरह से यों है कि लोग आपस की या देशी निरंकुश राजाओं की हिंसा से सुरक्षित हैं लेकिन, इंग्लैंड की जकड़न कुछ ऐसी है कि संपत्ति की सुरक्षा बिल्कुल नहीं है, और परिणामस्वरूप जान की सुरक्षा नहीं है। भारती की संपत्ति सुरक्षित नहीं है। जो कुछ सुरक्षित है, और अच्छी तरह सुरक्षित है वह यह है कि इंग्लैंड पूरी तरह निश्चित और सुरक्षित है। वह ऐसा ही करता है। पूर्णतया सुरक्षित ढंग से भारत से धन ले जाता है। उसकी संपत्ति को, आजकल की दर से 3 या 4 करोड़ पाँड सालाना हज़म कर रहा है। अतः मैं विनम्रता के साथ यह कहने का साहस करता हूँ कि भारत जान और माल की सुरक्षा का सुख नहीं भोग रहा है। भारत में लाखों लोगों के लिए जीवन का अर्थ है आधा पेट भोजन, भुखमरी, अकाल और बीमारी।

अंग्रेजों ने यह सुझाने का भी प्रयत्न किया कि उनके आने के साथ-साथ देश में कानून और

व्यवस्था के सक्षम निर्वाह का प्रारम्भ हुआ। इसका खंडन करते हुए उन्होंने तिरस्कार के साथ व्यंग्यात्मक ढंग से कहा :

एक भारतीय कहावत है, 'प्रार्थना करता हूं कि मारना है तो पीठ पर मारो; पेट पर मत मारो।' देश के निरंकुश राजाओं के राज्य में लोग जो भी कुछ पैदा करते हैं, उसे रखते हैं और उसका सुख भोगते हैं, यद्यपि कभी-कभी उन्हें पीठ पर मार खानी पड़ती है। ब्रितानी भारत के निरंकुशों के राज्य में आदमी शांतिपूर्वक है; कहीं हिंसा नहीं है। उसके स्वत्व को निचोड़ कर बाहर ले जाया जा रहा है। परोक्ष रूप में, शांतिपूर्वक और निपुणता के साथ वह कानून और व्यवस्था का पालन करते हुए शांति में भूखा रहता है और शांति में मर जाता है।

इस तरह आर्थिक प्रश्नों पर जो आंदोलन हुए उनके फलस्वरूप देशव्यापी स्तर पर यह मत विकसित हुआ कि ब्रितानी शासन भारत के शोषण पर टिका है और देश को निर्धन बना रहा है। उसने आर्थिक पिछड़ेपन और विकासहीनता को जन्म दिया है। ये हानियां उन परोक्ष लाभों से वचन में बहुत भारी थीं, जो ब्रितानी शासन के कारण संभवतया मिले हों।

प्रशासनिक सुधार

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी अधिकारी विशेष द्वारा उठारे गये प्रशासनिक कदमों के निर्भय आलोचक थे। उन्होंने भ्रष्टाचार, अक्षमता और दमन में लिपती प्रशासनिक प्रणाली में सुधार लाने के लिए निरंतर कार्य किया। जिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार के लिए उन्होंने आंदोलन किया वह था प्रशासनिक सेवा की उच्चतर श्रेणी के पदों का भारतीयकरण। यह मांग आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक आधार पर प्रस्तुत की गयी। आर्थिक आधार यह कि युरोपवासियों को दिये जाने वाले उंचे वेतन के कारण भारतीय वित्त पर एक बड़ा बोझ पड़ता था, और क्योंकि इस वेतन का बड़ा भाग ब्रिटेन भेज दिया जाता था, अतः निष्क्रमण को बढ़ावा मिलता था। राजनीतिक आधार यह कि यूरोपीय नागरिक प्रशासन भारतीय आवश्यकताओं को नज़रअंदाज़ करते थे। खासकर भारतीय पूंजीपतियों की कीमत पर यूरोपीय पूंजीपतियों की पक्षधरता करते थे। नैतिक आधार यह कि उसने भारतीय चरित्र को बौना बना दिया और उसे अपने ही देश में हीनता की एक स्थायी स्थिति में ला दिया। इसी के साथ उन राष्ट्रवादियों ने कम वेतन पाने वाले निचली श्रेणी के कर्मचारियों को अधिक वेतन दिलवाने के लिए आंदोलन किया। वे मानते थे कि निचले स्तर पर अक्षमता और भ्रष्टाचार काफी दूर तक इसलिए था, क्योंकि नौकरियों का वेतन बहुत कम था।

पुलिस और सरकार के एजेंटों का व्यवहार आम जनता के प्रति क्रूरतापूर्ण और दमनकारी था। उन राष्ट्रवादियों ने उसके विरुद्ध भी लगातार आंदोलन किया। राष्ट्रीय समाचार पत्रों में नित्य ही इस तरह के अत्याचारों का विवरण देने वाले अनेक समाचार प्रकाशित होते थे। राष्ट्रवादियों ने न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर देने की मांग की कि जनता को उससे कुछ सुरक्षा प्राप्त हो सके। उन्होंने मुकद्दमों में विभिन्न स्तरों पर कम और ज्यादा रुपये खर्च किये जाने की कानूनी

बाध्यता के कारण पैदा होने वाले विलंब की निंदा की। अब भी किसी भारतीय और यूरोपीय के बीच फौजदारी का मुकद्दमा हो जाता था, न्यायाधीश यूरोपियों का पक्ष लेने लगते थे। राष्ट्रवादियों ने इस न्यायिक विकार की निंदा करते हुए मांग की कि कानून द्वारा प्रदत्त समानता का अधिकार यूरोपियों पर भी लागू किया जाना चाहिए। उन्होंने जनता को निरस्त्र करने की नीति का विरोध किया और पैरवी की कि हर व्यक्ति को अस्त्र रखने का अधिकार है। उन्होंने भारत के पड़ोसी देशों के प्रति सरकार की आक्रमक विदेश नीति का तथा बर्मा को भारत में मिलाने, अफगानिस्तान पर आक्रमण करने और पश्चिमोत्तर भारत के आदिवासियों के दमन का विरोध किया।

भारत में जन कल्याण संबंधी सेवाएं बहुत छोटे स्तर पर चल रही थीं। उन राष्ट्रवादियों ने इसकी निंदा करते हुए मांग की कि सरकार राज्य के जनकल्याण संबंधी कामों का उत्तरदायित्व ले और उसे विकसित करें। खास तौर पर उन्होंने आम जनता में शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने तकनीकी और उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक सुविधाओं तथा चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं को विस्तृत करने की भी मांग की। इन सबसे आगे, जैसा कि हमने पहले ही देखा है, उन्होंने भारतीय उद्योग और कृषि के विकास के लिए प्रभावशाली शासकीय कदम उठाने की मांग की।

उन नेताओं ने दक्षिण अफ्रीका, मलाया, मारिशस, फिजी, वेस्ट इंडीज़ और ब्रिटिश गुयाना जैसे ब्रितानी उपनिवेशों में विस्थापित भारतीय मजदूरों की स्थिति को भी अपने आंदोलन का मुद्दा बनाया। इन देशों में भारतीय मजदूरों की हालत रंगभेद के कारण गुलामों से भी बदतर थी। सन् 1893 के बाद दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास करमचंद गांधी ने मानवीय अधिकारों के लिए जो जनव्यापी संघर्ष किया, उसे राष्ट्रवादियों ने पूरा समर्थन दिया।

विदेशी कानूनों ने कम मजदूरी देकर ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जिसमें मजदूर लगभग गुलामी की ज़िंदगी जीने के लिए मजबूर हो गये थे। राष्ट्रवादियों ने उनके मसले को भी अपने हाथ में लिया। लेकिन इसी के साथ यह बात भी ध्यान देने की है कि उन्होंने भारतीय कारखानों और खानों में काम करने वाले उन मजदूरों के बचाव में कोई आवाज़ नहीं उठायी जो निर्दयी शोषण के शिकार बना दिये गये थे। इस मामले में भारतीय नेताओं ने देशी पूंजीपतियों के हितों को प्राथमिकता दी।

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीयों के मन में शुरू से ही आधुनिक नागरिक अधिकारों (भाषण, प्रेम, विचार और संगठन बनाने की स्वतंत्रता) के प्रति तीव्र आकर्षण था। परिणाम यह कि जब कभी सरकार ने इन नागरिक अधिकारों को सीमित करने का प्रयत्न किया, उन्होंने जोरदार ढंग से उनका बचाव किया। भारतीय भाषा प्रेम विधेयक (1878) द्वारा कोशिश की गयी थी कि प्रांतीय भाषाओं में छपने वाले समाचारपत्रों की जबान बंद कर दी जाये। इसका दृढ़तापूर्वक जब तक विरोध किया जाता रहा, जब तक सन् 1880 में विधेयक को निरस्त नहीं कर दिया गया। इसी तरह सन् 1880-90 के बीच सरकारी गोपनीयता को बचाये रखने के नाम पर समाचारपत्रों के आलोचना करने के अधिकार को खत्म करने की कोशिश की गयी और इसका भी कड़ा विरोध किया गया।

इस सिलसिले में सबसे नाटकीय घटना थी बालगंगाधर तिलक तथा बहुत से नेताओं तथा संपादकों की सन् 1897 में गिरफ्तारी। कुछ पर ब्रितानी भारत की सरकार के प्रति विद्वेष फैलाने का अभियोग लगाया गया था। श्री तिलक उस समय तक एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेता के रूप में विख्यात हो चुके थे। उन्हें 18 महीने की कठोर बर्बर जेल की सजा दी गयी। नाटू बंधु के रूप में विख्यात पूना के दो नेताओं को बिना मुकद्दमे की सुनवाई किये कालापानी भेज दिया गया। अन्य बहुत से संपादकों को भी ऐसी ही सजाएं दी गयीं। राष्ट्रीय समाचार पत्र और राजनैतिक संगठन नागरिक अधिकारों पर हुए इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए कमर कसकर तैयार हो गये और एक देशव्यापी विरोध आंदोलन आयोजित हुआ। बालगंगाधर तिलक रातों रात एक अखिल भारतीय स्तर के लोकप्रिय नेता हो गये और जनता ने उन्हें लोकमान्य की उपाधि दी।

अब सरकार ने भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता को कम करने और पुलिस के अधिकार बढ़ाने के लिये नये कानून बनाये। विधेयक के बाद राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं पर भी वे ही कानून लागू किये जा सकते थे जिनका इस्तेमाल गुंडों-बदमाशों के लिए होता था। इन कानूनों का देशव्यापी विरोध हुआ। वास्तव में इसी के साथ-साथ नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का संघर्ष स्वतंत्रता के संघर्ष का एक अविच्छिन्न अंग बन जाने वाला था।

संवैधानिक सुधार और स्वशासी सरकार की मांग

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी शुरू से ही यह विश्वास करते थे कि भारत को अंततः एक स्वशासी सरकार की मांग की दिशा में बढ़ना चाहिए। लेकिन उन्होंने इस उद्देश्य को तत्काल पूरा कर देने की मांग नहीं की। इसकी जगह पर उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में एक-एक करके कदम रखने का सुझाव दिया। उनकी तत्कालिक राजनीति अत्यंत सामान्य थी। प्रारंभ में उन्होंने यह कह दिया कि विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करके भारतीय जन को सरकार में अधिक हिस्सा देना चाहिए। भारतीय विधान परिषद् विधेयक (इंडिया काउंसिलस एक्ट), सन् 1861 के अनुसार परिषदों में कुछ गैरकानूनी लोगों को मनोनीत करने की व्यवस्था हुई थी। सरकार द्वारा मनोनीत वे गैर सरकारी व्यक्ति प्रायः जमींदार या बड़े व्यापारी होते थे, जो पूर्ण तौर पर सरकारी दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्रमाण के लिए सन् 1888 में उन्होंने बिना किसी संकोच के नमक कर की वृद्धि का समर्थन किया। कांग्रेसी मंच पर उन्हें अक्सर व्यंग्य के साथ 'जी हुजूरों' या शानदार 'धुरहू-कतवारू' के रूप में याद किया जाता था। राष्ट्रवादियों ने विधान परिषदों के अधिकारों को व्यापक करने और सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि करने की मांग की ताकि वे बजट पर बहस कर सकें, आये दिन प्रशासन की समालोचना कर सकें, उस पर आपत्ति कर सकें। इन सबसे आगे उन्होंने मांग की कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को परिषद् का सदस्य बनाया जाये।

सार्वजनिक दबाव में सरकार ने पुरानी व्यवस्था में संशोधन करके नया भारतीय विधान परिषद् विधेयक (1892) पास किया। विधेयक ने गैरसरकारी सदस्यों की संख्या में वृद्धि की, लेकिन उनमें से कुछ सदस्यों का चुनाव परोक्ष रूप में होना था। सदस्यों को बजट पर बोलने का अधिकार भी दिया गया लेकिन उन्हें उस पर मत देने का अधिकार नहीं मिला। इस तरह का अल्प सुधार भारतीयों

के असंतोष को बिल्कुल कम नहीं कर सका। उन्हें लगा कि उनकी मांगों का मज़ाक उड़ाया गया है। अब उन्होंने इस बात के लिए आंदोलन किया कि परिषद् में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों को बहुमत देना चाहिए। बल्कि उसकी सबसे बड़ी मांग यह थी कि जन-कोष पर गैरसरकारी भारतीय नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने नारा लगाया, 'बिना प्रतिनिधित्व के कराधान नहीं'। लेकिन इसी के साथ वे अपनी जनतांत्रिक मांगों के आधार को व्यापक बनाने में असफल रहे। उन्होंने आम जनता या स्त्रियों को मतदान का अधिकार दिलाने की मांग नहीं की। ज़ाहिर था कि उनकी मांगों से केवल मध्य और उच्च वर्ग को लाभ मिलता।

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपने वैज्ञानिक उद्देश्यों की दिशा में शताब्दी की समाप्ति के वक्त तक काफी प्रगति की। उनकी मांगे मामूली सुधारों तक सीमित नहीं थीं। अब उन्होंने मांग की कि आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे स्वशासी उपनिवेशों की तरह भारत में भी पूर्णतया स्वशासी सरकार हो, और वित्त तथा विधान दोनों पर भारत का पूर्ण नियंत्रण हो। उन्होंने प्रणाली में परिवर्तन की मांग की। प्रमाण के लिए सन् 1904 में दादाभाई नौरोजी ने और सन् 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में भाषण देते हुए यह मांग की। दादा भाई नौरोजी पहले भारतीय थे, जिन्होंने सन् 1906 में कोलकाता में कांग्रेस के अधिवेशन में इस मांग के लिए स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार आरंभिक दौर और उसके बाद के राष्ट्रवादियों में मूलभूत असहमति राजनीतिक लक्ष्य की परिभाषा को लेकर नहीं थी। वास्तविक असहमति थी सम्मत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष के तरीके को लेकर और उन सामाजिक वर्गों या गुटों के चरित्र को लेकर जिनके आधार पर संघर्ष शुरू करना था। दूसरे शब्दों में असहमति, लक्ष्यों को लेकर और उन सामाजिक वर्गों या गुटों के चरित्र को लेकर, जिनके आधार पर संघर्ष शुरू करना था। दूसरे शब्दों में असहमति लक्ष्यों को लेकर नहीं, उन्हें व्यावहारिक रूप में प्राप्त करने के तरीके को लेकर थी।

राजनीतिक कार्य के तरीके

राजनैतिक कार्य करने के लिए प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने जो तरीके अपनाये, उन्हीं की वजह से उन्हें नरमपंथी की उपाधि मिली। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ये तरीके छोटे रूप में धीरे-धीरे व्यवस्थित राजनीतिक प्रगति के लिए अपने को संवैधानिक आंदोलन के चौखटे में सीमित रखकर काम करते थे। वे विश्वास करते थे कि उनका मुख्य काम जनता को आधुनिक राजनीति में शिक्षित करना, राष्ट्रवादी राजनीतिक चेतना को विकसित करना और राजनीतिक प्रश्नों पर एक संगठित जनमत तैयार करना था। इस लक्ष्य के लिये उन्होंने बहुत से तरीकों पर भरोसा किया। उन्होंने बैठकें आयोजित की, जिनमें बहुत उच्च स्तर के राजनैतिक और बौद्धिक भाषण दिये जाते थे तथा लोकप्रिय मांगों को लेकर प्रस्ताव पारित किये जाते थे। समाचारपत्रों के जरिये उन्होंने निरंतर सरकार के गुणदोष का विवचेन किया। उन्होंने उच्च सरकारी अफसरों और ब्रितानी संसद को अनेकों याचिकाएं और स्मरण पत्र तक दिये। वे याचिकाएं और स्मरणपत्र सावधानीपूर्वक तैयार किया गये दस्तावेज़ होते थे, जिनमें परिश्रम पूर्वक तर्कों तथा तथ्यों को क्रमबद्ध रूप से रखा गया होता था। हालांकि प्रत्यक्ष रूप में वे याचिकाएं सरकार को संबोधित होती थीं लेकिन उनका वास्तविक उद्देश्य

भारतीय जनता को शिक्षित करना होता था। प्रमाण के लिए जब सन् 1891 में पूना सार्वजनिक सभा द्वारा सावधानीपूर्वक तैयार किये गए स्मरणपत्र का सरकार की और दो पंक्तियों में उत्तर आया और उस पर युवक गोखले ने निराशा प्रकट की तो न्यायाधीश रानाडे ने उत्तर देते हुए कहा :

आप यह महसूस नहीं करते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है ये स्मरणपत्र सरकार को नाममात्र के लिये संबोधित किये जाते हैं। वास्तव में वे संबोधित होते हैं जनता को ताकि वह जान सके कि इन मामलों में कैसे सोचा जाता है। क्योंकि इस तरह की राजनीति यहां के लिए एकदम नयी है, अतः किसी और परिणाम की आशा किये बिना इस काम को आने वाले अनेकों वर्षों तक करते रहना आवश्यक है।

उन नेताओं के राजनीतिक कामों का दूसरा उद्देश्य इच्छित परिवर्तन लाने के लिए ब्रितानी सरकार और जनमत को प्रभावित करना था। उन्हें यकीन था कि अंग्रेजों को भारत की वास्तविक स्थिति का पता नहीं था। अतः उन्होंने याचिकाओं और स्मरणपत्रों के जरिये और ब्रिटेन में सक्रिय राजनैतिक प्रचार करके ब्रितानी जनता और उसके नेताओं को (भारत की परिस्थिति के प्रति) प्रबुद्ध करना शुरू किया। सन् 1889 में राष्ट्रीय कांग्रेस की एक ब्रिटिश कमेटी की स्थापना की गयी। भारत के शीर्षस्थ नेताओं के प्रतिनिधिमंडल ब्रिटेन भेजे गये। इस समिति ने सन् 1890 में इंडिया नाम की पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन में रहकर वहां की जनता और राजनीतिज्ञों के बीच प्रचार कार्य करने में अपने जीवन और आय का एक बड़ा भाग लगा दिया।

हालांकि प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने केवल कानूनी आंदोलन में विश्वास किया, लेकिन उसे भी, सीमित आधार पर ही सही; (सिवाय समाचारपत्रों के माध्यम के) वे देशव्यापी स्तर पर संगठित करने या निरंतर चलाते रहने में सफल नहीं हुए। इसका एक कारण कोष की नितान्त कमी थी। वे निरंतर धन के अभाव में रहे। उस वक्त तक धनी भारतीयों, जैसे ज़मींदारों, व्यापारियों और पूंजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए वित्तीय सहायता नहीं दी थी। अधिसंख्य राजनीतिक नेताओं को अपनी ही कमाई का सहारा था, जो प्रायः बहुत अल्प थी। प्रमाण के लिए सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और गोपाल कृष्ण गोखले दोनों शिक्षक थे। उन्हें उसी मामूली कमाई पर निर्वाह करना पड़ता था। तिलक ने कानून के छात्रों को पढ़ाने के लिए निजी क्लास खोल रखी थी। अंशतः कोष की इस कमी की वजह से प्रारंभिक दौर में राष्ट्रवादियों में, वकालत और पत्रकारिता के दो स्वतंत्र पेशों के लोगों की प्रधानता रही।

जनता की भूमिका

प्रारंभिक दौर के आंदोलन की मूलभूत कमजोरी उसके सामाजिक आधार की संकीर्णता थी। उस वक्त लोग उसके प्रति व्यापक रूप से आकर्षित नहीं हुए थे। उसके प्रभाव का क्षेत्र मुख्यतया शहरों के शिक्षित भारतीयों तक सीमित था। विशेषकर नेतृत्व भी पेशेवर वर्गों यथा, वकीलों, डाक्टरों, पत्रकारों, शिक्षकों और कुछ व्यापारियों तथा भू-स्वामियों के दायरे में बंधा हुआ था।

जहां तक राजनीति का प्रश्न था-नेतागण जनता में विश्वास नहीं करते थे। वे मानते थे कि

भारतीय लोगों में उस चरित्र और क्षमता का अभाव है, जिसके बल पर आधुनिक राजनीति में भाग लिया जा सकता था, उस समय की सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध सफल संघर्ष किया जा सकता है। सक्रिय राजनैतिक संघर्ष के आगे आने वाली कठिनाइयों का जिक्र करते हुए गोखले ने कहा : “देश में असंख्य वर्ग और उपवर्ग हैं। आबादी का बहुलांश अज्ञानी है, सनातनी भावों और विचारों से दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ है, वह किसी भी प्रकार परिवर्तन के प्रति न केवल उदासीन है, बल्कि उसे समझता ही नहीं।” यहां पर नरमपंथी नेताओं ने एक भयंकर भूल की। उन्होंने जनता के केवल सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पिछड़ेपन को देखा। उन्होंने यह नहीं देखा कि केवल जनता के पास ही शौर्य और बलिदान के वे गुण हैं, जिनकी एक लंबे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को आवश्यकता है। केवल जनता ही उनकी राजनैतिक मांगों को आगे बढ़ाने की वास्तविक शक्ति दे सकती थी, यहां तक कि समय के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर भी किया जा सकता है। वे यह मानकर चले थे कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जुझारू जन संघर्ष केवल तभी छोड़ा जा सकता है, जबकि भारतीय समाज के विविध वर्गों के लोग एक राष्ट्र के रूप में संयुक्त कर दिये गये हों। लेकिन वास्तव में देश के एक राष्ट्र के रूप में संयुक्त हो जाने की स्थिति संघर्ष के ही दौरान आई। जनता के प्रति अपनाये गये इस गलत रुख का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रवादिया के प्रारंभिक दौर में जनता को एक निष्क्रिय भूमिका निभाने का दायित्व दिया गया। हालांकि वह गलत रुख भी नेताओं में इसलिए पैदा हुआ था कि वे जनता से अलग-अलग थे। उस भूमिका के कारण राजनीति में नरमपंथिता आयी। जन समर्थन के अभाव में नेताओं ने महसूस किया कि विदेशी सरकार को चुनौती देने का अभी उपयुक्त समय नहीं है। ऐसा करने का मतलब वक्त के पहले ही दमन को न्यौता देना है। गोखले ने कहा भी : “आप यह महसूस नहीं करते कि सरकार के पीछे कितनी अपार शक्ति है। यदि आपके सुझाव के अनुसार कांग्रेस कुछ करेगी तो सरकार को पांच मिनट में ही उसका गला घोट देने में कोई कठिनाई नहीं होगी।” वस्तुतः बाद के राष्ट्रवादियों और उन नरमपंथियों में इसी मामले में असहमति थी। उन्हें भारतीय जनता की संघर्ष करने की क्षमता में पूरा विश्वास था। इसलिए उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जुझारू संघर्ष चलाने की योजना की पैरवी की। उन्हें यकीन था कि सरकार के दमन से आंदोलन का गला नहीं घुटेगा बल्कि जनता शिक्षित होगी और साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने का उसका इरादा पहले से ज्यादा मजबूत होगा।

जो भी हो, आरंभिक दौर के राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक आधार की संकीर्णता से यह नतीजा नहीं निकलना चाहिए कि संघर्ष केवल उन सामाजिक वर्गों या गुटों के हित के लिए हुआ, जो उनमें शामिल थे। उन्होंने अपने कार्यक्रम और नीतियों द्वारा भारतीय जनता के हर वर्ग के मसलों को उठाया और औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध सारे देश में हितों की अगुवाई की। लेकिन साम्राज्य विरोधी संघर्ष के विरुद्ध सारी जनता को तैयार कर पाने में सफलता नहीं मिली। परिणाम यह हुआ कि उसे साम्राज्यवाद के अक्सर समझौते करने को विवश होना पड़ा। यहां तक कि ‘राज’ के प्रति वफ़ादारी की भी बात करनी पड़ी।

सरकारी रवैया

सरकार शुरू से ही राष्ट्रीय शक्तियों के विकास की विरोधी रही। सन् 1878 में जब भारतीय प्रेस ने औपनिवेशिक नीतियों की निंदा करते हुए राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की कोशिश की तो सरकार ने उसे बुरी तरह दंडित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को डफरिन ने संदेह की दृष्टि से देखा था। उन्हें लगा : “ऐसी संस्था अनिवार्य रूप से शासकीय नीति और कार्यों की आलोचना करेगी तथा उसकी असंबद्ध मांगों को पूरा करना असंभव होगा।” उन्होंने ह्यूम को यह सुझाव देकर कि ‘कांग्रेस को राजनीतिक मसलों के बजाय सामाजिक मसलों पर काम करना चाहिए’ आंदोलन की दिशा बदलने की कोशिश की थी।¹ लेकिन कांग्रेसी नेताओं ने ऐसा करने से इंकार कर दिया था। उस वक्त तक सरकारी अधिकारियों ने खुले ढंग से विरोधी रवैया नहीं अपनाया था। उन्होंने उम्मीद की थी कि कांग्रेस खुद राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध कुछ गिने-चुने भारतीयों के बीच सैद्धांतिक बहस-मुबाहिसा चलाने तक अपने को सीमित रखेगी। वे राष्ट्रवादी नेतावर्ग के कुछ अधिक प्रतिभाशाली लोगों को विधान परिषद् में जगह या न्यायपालिका और दूसरी सेवाओं में अच्छे वेतन वाले पद देने के लिए भी तैयार थे।

लेकिन यह तथ्य जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस या दूसरे राष्ट्रवादी संगठन और व्यक्ति या समाचार पत्र, सामाजिक मसलों जैसे काम तक अपने को सीमित नहीं रखेंगे। समाचार पत्र जनता तक पहुंचने लगे और कांग्रेस ने भारतीय भाषाओं में जनप्रिय प्रचार पुस्तिकाएं प्रकाशित करना शुरू किया। राष्ट्रवादियों के संदेश जन सभाओं में सुनाये जाने लगे। अंग्रेज आम जनता में विकसित होती हुई राजनीतिक चेतना को बर्दाश्त नहीं कर सके। यह और कुछ नहीं, देशद्रोह था। राष्ट्रवादियों के आर्थिक आंदोलन ने साम्राज्यवाद के शोषक मुखौटे को खोलकर असलियत पर पर्दाफाश कर दिया। सन् 1900 में भारत संबंधी मामलों में ब्रितानी मंत्री जार्ज हैमिल्टन ने दादाभाई नौरोजी से शिकायत की : “अपने आपको आप ब्रितानी सरकार का विश्वसनीय समर्थक घोषित करते हैं, आप उन परिस्थितियों और परिणामों की तीव्र भर्त्सना करते हैं, जो प्रशासन चलाये रखने की प्रक्रिया में पैदा होते हैं और जिन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता।” इससे पहले सन् 1886 में राष्ट्रवादी समाचारपत्रों की भूमिका के बारे में उन्होंने लिखा था : “इस तरह बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि जो लोग ये समाचार पत्र पढ़ते हैं उनके मन में पक्के तौर पर यह विश्वास पैदा कर दिया जाता है कि हम सभी लोग आम तौर पर मनुष्य मात्र के और खास तौर पर भारतवर्ष के दुश्मन हैं।”

अब अंग्रेज अधिकारियों ने खुले रूप में भारतीय कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं की आलोचना और निंदा करनी शुरू कर दी। राष्ट्रवादियों को ‘नमकहराम बाबू’, ‘देशद्रोही ब्राह्मण’ और

1. आम धारणा यह है कि डफरिन के सुझाव पर ही कांग्रेस ने सामाजिक मसलों से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। यह धारणा गलत है और इसे सुधारना चाहिए। यह गलत दृष्टिकोण सबसे पहले डब्ल्यू. सी. बैनर्जी (उमेशचंद्र) द्वारा सन् 1898 में एक लेख में प्रस्तुत किया गया था। उसके बाद अन्य लेखक इसी की पुष्टि करते रहे। डफरिन के निजी कागज-पत्रों से पता चलता है कि श्री बैनर्जी ने अपनी क्षीण स्मृति से जो कुछ लिखा, वास्तविकता उससे विपरीत थी।

‘हिंसक खलनायक’ जैसे विशेषण दिये गये। कांग्रेस को ‘देशद्रोह का कारखाना’ और कांग्रेसियों को ‘पद न पाने वाले निराश उम्मीदवार’ और ऐसे ‘असंतुष्ट वकील’ कहा गया जो किसी और के बदले खुद अपना प्रतिनिधित्व करते हैं। सन् 1887 में डफरिन ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कांग्रेस की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था, ‘वह जनता के उस अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जिसकी संख्या कम से कम है।’ जार्ज हैमिल्टन ने कांग्रेसी नेताओं पर यह आरोप लगाया कि ‘ये देशद्रोही द्विपक्षी चरित्र के हैं।’ दादाभाई नौरोजी ने ब्रितानी सरकार का जो पर्दाफाश किया था, उससे वे इतने बौखला गये कि उस महान् नेता को लेकर आम गाली के स्तर पर उतर आये। उन्होंने घोषित किया, ‘इंग्लैंड में रहने तथा उग्रवादी और समाजवादी अंग्रेज़ नेताओं की सोहबत के कारण उनका (दादाभाई नौरोजी का) दिमाग (जो पहले जितना भी अच्छा क्यों न रहा हो) खराब हो गया है।’ वायसराय कर्जन ने सन् 1900 में घोषणा की : “कांग्रेस अपनी मौत की घड़ियां गिन रही है। भारत में रहते हुए मेरी एक सबसे बड़ी इच्छा यह है कि मैं उसे शांतिपूर्वक मरने में मदद दे सकूँ।” उन्होंने कांग्रेस को एक ‘गंदी चीज़’ कहा। कुछ अंग्रेज़ प्रचारकों ने तो कांग्रेस पर यह अभियोग तक लगाया कि उसे रूस से पैसा मिलता है।

बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला करने के लिए ब्रितानी सरकार ने फूट डालो और शासन करो की नीति पर और अधिक बल दिया। उन्होंने महसूस किया कि भारतीय जनता की बढ़ती हुई एकता उनके शासन के लिए मुख्य खतरा है। जार्ज हैमिल्टन ने सन् 1897 में वायसराय एल्लिन को लिखा : “भारतीय जनमानस में, वहां की जातियों और धर्मों में, हमारे शासन के विरुद्ध जो एकता बढ़ रही है, उसकी वजह से मैं भविष्य की कल्पना करते हुए डर जाता हूँ।” अतः अंग्रेज़ अधिकारियों ने सैयद अहमद खां, राजा शिवप्रसाद तथा अन्य ब्रिटेन समर्थक व्यक्तियों को एक कांग्रेस विरोधी आंदोलन शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एक दरार पैदा करने की भी कोशिश की। उन्होंने सरकारी नौकरियों को लेकर शिक्षित भारतीयों में सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्वता की भावना को उभारा। सन् 1857 के विद्रोह के तत्काल बाद उन्होंने उच्च वर्ग के मुसलमानों को दबाकर मध्य और उच्च वर्ग के हिंदुओं की पक्षधरता की थी। लेकिन सन् 1870 के बाद उन्होंने मध्य और उच्च वर्ग के मुसलमानों से राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध कराने की कोशिश की। सांप्रदायिक भावनाओं को उभारने के लिए उन्होंने बड़ी चालाकी के साथ हिंदी और उर्दू के विवाद का फायदा उठाया। कट्टरपंथी हिंदुओं द्वारा शुरू किये गये ‘गोवध बंद’ आंदोलन का भी इस्तेमाल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। भारतीय मामलों के मंत्री किंबरले ने 25 अगस्त, 1893 को वायसराय लैंसडाउन को लिखा : “यह आंदोलन हिंदुओं और मुसलमानों के सारे मेलजोल को असंभव बना देता है। इस तरह वह भारतीय जनता को एकबद्ध करने के कांग्रेस के आंदोलन की जड़ काट देता है।” फूट डालो और शासन करो की नीति केवल हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेद तक सीमित नहीं थी। परंपरागत सामंती वर्ग को नये शिक्षित वर्ग से, एक प्रांत को दूसरे प्रांत से, एक जाति को दूसरी जाति से और एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाने का भी प्रयत्न किया गया। इसके लिए भी प्रयत्न किये गये कि राष्ट्रवादियों में से, रूढ़िवादी या नरमपंथी वर्ग के

लोगों के प्रति अधिक मित्रता का रुख अपना कर, उनमें आपस में फूट पैदा कर दी जाये। सन् 1870 और 1890 के बीच ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन जैसे पुराने संगठनों के नेताओं को संतुष्ट करने की कोशिश इस उद्देश्य से की गयी कि उग्रवादी कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध हो जाये। सन् 1890 और 1900 के बीच कोशिश हुई कि उमेशचंद्र बैनर्जी, न्यायाधीश रानाडे और गोखले जैसे कुछ पुराने कट्टरपंथी नेताओं को उग्रवादी समझे जाने वाले दादा भाई नौरोजी और सुरेंद्रनाथ बैनर्जी जैसे नेताओं से अलग-अलग कर दिया जाये। सन् 1905 के बाद अब कांग्रेस के नरमपंथी और उग्रपंथी नेताओं में मतभेद पैदा हो गये तो ब्रितानी शासकों ने उनमें फूट डाल देने का कृतसंकल्प प्रयत्न किया।

ब्रितानी अधिकारियों ने 'डांट-पुचकार' की नीति का भी अनुसरण किया। एक तरफ दिखावे के लिये रियायतें और दूसरी तरफ राष्ट्रवादिता के विकास को खत्म करने के लिए निर्ममतापूर्वक दमन। नागरिक सेवाओं में भर्ती के लिए अधिकतम आयु सीमा में रियायत, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए संभावनाओं को बढ़ाकर, ज़िला बोर्डों और नगरपालिकाओं के अधिकारों को व्यापक करके और भारतीय परिषद् विधेयक, 1892 को पारित करके राष्ट्रवादियों के अपेक्षाकृत अधिक नरमपंथी वर्ग के लोगों को संतुष्ट किया गया। लेकिन उसी के साथ कमज़ोर दिलवालों को दहलाने के लिए दमन की नीति भी अपनायी गई। सन् 1898 में वायसराय एल्गिन ने भारतीयों को खुली धमकी देते हुए घोषणा की : "भारतवर्ष तलवार के बल पर जीता गया था और तलवार के ही बल पर उसे ब्रितानी कब्जे में रखा जायेगा।" जैसा कि हम देख ही चुके हैं बालगंगाधर और दूसरे पत्रकारों की गिरफ्तारी के साथ पश्चिमी भारत के राष्ट्रवादियों पर एक सशक्त आक्रमण किया गया था। सन् 1898 में एक कानून लागू करके समाचारपत्रों की स्वतंत्रता सीमित कर दी गयी और पुलिस तथा दंडनायकों के अधिकार बढ़ा दिये गये।

ब्रिटिश अधिकारियों का विश्वास था कि शिक्षा का प्रसार राष्ट्रीयता के विकास का एक प्रमुख कारण रहा है। अतः उस पर सरकार के अधिक नियंत्रण और उसके आधुनिक उदार चरित्र को बदल देने की योजनाएँ आगे बढ़ाई गईं। इन योजनाओं का खाका खींचते हुए जार्ज हैमिल्टन ने सन् 1899 में वायसराय से कहा : "सबसे पहले शिक्षा, उसके संगठन और पाठ्य-पुस्तकों पर अधिक नियंत्रण रखें।" सन् 1903 में शिक्षा विधेयक लागू करके और स्कूल-कॉलेजों के निरीक्षण की पद्धति द्वारा शिक्षकों पर सख्त नियंत्रण करके उस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश की गयी। दूसरे, सरकार ने धार्मिक न्यासों द्वारा संचालित कॉलेजों को प्रोत्साहन देने का फैसला किया। जिस आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के कारण विवेकयुक्त, जनतांत्रिक और राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार हुआ था, उसे धार्मिक और नैतिक प्रणाली को आधार बनाकर चलने वाली शिक्षा में बदलने के प्रयत्न हुए।

यद्यपि शिक्षा की यह नयी प्रणाली भारतीय धर्मों और भारतीय संस्कृति के महिमामंडन पर आधारित थी, लेकिन वह प्रतिक्रियावादी थी; क्योंकि वह युवकों को प्रगतिशील नहीं बना सकी। उनमें आधुनिकता का बोध नहीं पैदा कर सकी। इस नीति ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत आते-आते यह स्पष्ट कर दिया कि किस तरह ब्रितानी साम्राज्यवाद के सारे प्रगतिशील तत्व नष्ट हो गये और यह भी कि वह सामाजिक और बौद्धिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी और निष्प्राण से गठजोड़ करने को

तैयार था। अब उसे रूढ़िवाद और धार्मिक पुनर्जागरणवाद से कोई गंभीर आपत्ति नहीं थी। ब्रितानी शासन के ढांचे में सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद को जगह दी जा सकती थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह आधुनिक विचारों के प्रसार से भयभीत था।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

बाद में आलोचकों ने कहा था कि प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों को व्यवहारिक धरातल पर अधिक सफलता नहीं मिली थी। जिन सुधारों के लिए उन्होंने आंदोलन किया था, उनमें बहुत कम अमल हुआ। विदेशी शासकों ने उनके साथ उपेक्षापूर्ण बर्ताव किया और उनकी राजनीति की खिल्ली उड़ायी जैसा कि लाजपतराय ने बाद में लिखा : “अपनी शिकायतों का निवारण कराने तथा रियायतें पाने के लिए उन्होंने 20 साल से अधिक समय तक कमोबेश जो निरर्थक आंदोलन चलाया उसमें उन्हें रोटियों के बजाय पत्थर मिले।” वास्तविकता यह है कि सरकार अधिक उदार होने के बदले अधिक प्रतिक्रियावादी और दमनकारी हो गयी। इतना ही नहीं; प्रारंभिक दौर का आंदोलन आम जनता में अपनी जड़े जमाने में असफल रहा और जिन लोगों ने बड़ी उम्मीदों के साथ उसमें हिस्सा लिया था, वे भी अधिक से अधिक तीव्रता के साथ महसूस करने लगे कि वे भ्रम में थे। उसके आलोचकों ने उसकी राजनीति की खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि वह ‘लंगड़ी’ और ‘आधे मन’ की थी तथा उसकी यातिकाएं और निवेदन के तरीके भीख मांगने जैसे थे। उन्होंने इशारा किया कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर उस दौर के अधिसंख्य नेताओं ने न कोई व्यक्तिगत त्याग किया, न मामूली किस्म की निजी तकलीफ उठायी। इतना ही नहीं उनका कार्यक्रम पूंजीवाद के संकीर्ण दायरे में सीमित था। वे सोच ही नहीं सके कि भारत का विकास पूंजीवादी चौखटे से बाहर हो सकता है। इसका एक निश्चित परिणाम यह हुआ कि आम जनता पर उनकी अपील का उतना असर नहीं पड़ा, जितना पड़ सकता था और इसी की वजह से उसी किसी राजनैतिक कार्यक्रम में आगे ले जाने की उनकी क्षमता भी सीमित हो गयी।

बहरहाल, आलोचकों की यह घोषणा प्रारंभिक दौर का राष्ट्रीय आंदोलन असफल रहा, बहुत सही नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी व्यवहारिक उपलब्धि मामूली थी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रितानी शासन के चरित्र में परिवर्तन आ जाने के कारण उनकी पूर्व-धारणाएँ और दृष्टिकोण पुराने पड़ गये थे। यहां तक कि वे देशव्यापी स्तर पर संवैधानिक आंदोलन चलाने में भी असफल हो गये। युवा वर्ग अब उनकी और आकर्षित नहीं होता था और आम जनता उनके संगठन और प्रचार से प्रभावित रही। सन् 1905 तक वे अपने राजनीतिक विकास की सीमा पर पहुंच गये थे।

लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का राजनीतिक आमालनामा सचमुच उतना धुंधला नहीं है बल्कि उसके विपरीत—यदि हम उन अपरिमित कठिनाइयों को ध्यान में रखें, जिनका उन्हें अपने काम के सिलसिले में मुकाबला करना पड़ा तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनका आमालनामा काफी रौशन है। व्यापाक अर्थ में यह उनकी उपलब्धि ही थी, जिसने बाद के राष्ट्रीय आंदोलन को अधिक उन्नत अवस्था तक पहुंचाया और उनके दृष्टिकोण को ऐतिहासिक

दृष्टि से अव्यवहार्य बना दिया। अतः प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपने समय की सर्वाधिक प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने भारतीय राजनीति में एक निर्णायक मोड़ की स्थिति को संभव बनाया।

उन्हें व्यापक स्तर पर राजनीतिक चेतना पैदा करने में सफलता मिलती। उन्होंने ही मध्य, निम्न मध्य और शिक्षित वर्ग के भारतीयों में यह भावना पैदा की कि उनका संबंध एक राष्ट्र से है—भारत नाम के राष्ट्र से। उन्होंने भारतीय जनों को इस दृष्टि से जागरूक किया कि उनके राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित एक हैं और उन सभी का एक ही शत्रु है, जो साम्राज्यवाद के रूप में वर्तमान है। इस प्रकार उन्होंने उन भारतीय जनों को एक समान राष्ट्रीयता से जोड़ दिया। उन्होंने जनता में जनतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता के विचारों को प्रचारित किया। भारतीय कांग्रेस तथा अन्य लोकप्रिय और राष्ट्रवादी संगठनों के निर्माण के ही दौर में भारतीयों को जनतंत्र का व्यवहारिक ज्ञान मिला। यह वह समय था जब शासक उन्हें लगातार यह बता रहे थे कि केवल 'परोपकारिता' या प्राच्य तानाशाही वाले शासन के उपयुक्त हैं। इतना ही नहीं, एक बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी राजनैतिक कार्यकर्ता आधुनिक राजनीति को कला में प्रशिक्षित किये गये थे और (उनके माध्यम से) जनता आधुनिक राजनीति के विचार और अवधारणा से परिचित हुई।

सबसे बड़ी बात यह है कि ब्रितानी साम्राज्यवाद को वास्तविक चरित्र का पर्दाफाश करने में उन्होंने दिशा-निर्देशक का काम किया। उन्होंने लगभग सारे महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नों को भारत की राजनीतिक स्वाधीनता से जोड़ा और इस प्रकार, यद्यपि वे राजनीति और उसके तरीकों में नरमपंथी थे, उन्होंने इस भारतीय वास्तविकता के (कि आर्थिक घोषणा के उद्देश्य से ही विदेशी उस पर शासन कर रहे हैं) सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं को सफलतापूर्वक उजागर किया। कोई भी शासन राजनैतिक ढंग से केवल तभी तक सुरक्षित रह सकता है, जब तक जनता में या तो उसका परोपकारी चरित्र में मूलभूत विश्वास है या उसने चुपचाप यह स्वीकार कर लिया है कि उस शासन को बने ही रहना है। यह स्थिति शासन को वैधता प्रदान करती है और यही उसकी नैतिक आधारशिला है। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों के आर्थिक आंदोलन ने ब्रितानी शासन की इस नैतिक आधारशिला में पूरी तरह सुरंग लगा दी। उसने ब्रितानी शासन के चरित्र के, उसके अच्छे आशय और अच्छे परिणाम के बारे में, जनमत में बैठे विश्वास को धीरे-धीरे खत्म कर दिया। बौद्धिक बेचैनी के इस दौर में जहां एक बार यह काम हो गया, निश्चय था कि ब्रितानी साम्राज्यवाद की नंगी असलियत को उघाड़ने का काम राजनैतिक क्षेत्र में भी होता। उसके बाद ही संघर्ष का, उसके सामाजिक आधार को व्यापक करने का, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक लक्ष्यों को आमूल सुधारवादी बनाने का, आम जनता को संघर्ष में लगाने और उसके दिमागी तौर पर जुड़ने का, और जन-आंदोलन चलाने का काम किया जा सकता था और वह हुआ भी। एक बार मुख्य मुद्दों के साफ हो जाने पर, राजनैतिक संघर्ष की व्यूह रचना और उसकी शक्तियों को समझने में हुई भूल को ठीक उन मुद्दों के संदर्भ में कभी भी सुधारा जा सकता था। अपने राजनैतिक कार्य के इस नाजुक और प्राथमिक चरित्र को प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अच्छी तरह पहचाना था। उदाहरण के लिए 12

जनवरी, 1905 को डी. ई. वाचा ने दादाभाई नौरोजी को एक पत्र में लिखा :

अपने धीमे और प्रगतिशील न होने का जो अधैर्य और असंतोष कांग्रेस ने उभरती हुई पीढ़ी के मन में अपने ही विरुद्ध जगाया, वही उसका सबसे बड़ा परिणाम व फल है। यह उसकी ही प्रगति है, उसका ही विकास है। अब काम है अपेक्षित क्रांति लाने का। भले ही वह हिंसक हो या शांतिपूर्ण। क्रांति के चरित्र का स्वरूप ब्रितानी सरकार की बुद्धिमत्ता या अज्ञानता और अंग्रेज़ जनता के काम के आधार पर बनेगा।

सन् 1858 और 1905 के बीच का समय भारतीय राष्ट्रवादिता के बीजोरोपण का समय था, और उस दौर के राष्ट्रवादियों ने उस बीच को अच्छी तरह और गहराई से बोया। उन्होंने अपनी राष्ट्रवादिता को सतही संवेगों और अस्थायी भावनाओं को जागृत करने के आग्रह या स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अमूर्त अधिकार या अतीत को याद दिलाने की अपील पर आधारित नहीं किया, वरन् उसकी जगह पर उसे आधुनिक साम्राज्यवाद के पेचीदा ढांचे के भावुकता से मुक्त और गहरे विश्लेषण तथा भारतीय जनता और ब्रितानी शासन के हितों के मुख्य अंतर्विरोध को ज़मीन में गाढ़ा। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसा समान राजनीतिक और धार्मिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसने भारत के विभिन्न वर्गों के लोगों को विभाजित करने की जगह एकबद्ध कर दिया। बाद में भारतीय जनता इस कार्यक्रम से संबद्ध हुई और उसने एक सशक्त संघर्ष शुरू किया।

अतः यह कहा जाता है कि अपनी कतिपय असफलताओं के बावजूद प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की एक ऐसी ठोस नींव रखी, जिस पर उसका अगला विकास हुआ। आधुनिक भारत के निर्माताओं में वे उच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं। भारतीय राष्ट्रवादिता के जनक नेताओं की भूमिका का मूल्यांकन करते हुए महान् नरमपंथियों की अंतिम कड़ी गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा :

हम यह न भूलें कि हम देश की प्रगति के उस बिंदु पर खड़े हैं, जहां हमारी उपलब्धियां अनिवार्यतया नगण्य और असफलताएं बार-बार की तथा पीड़क और परीक्षा लेने वाली होंगी। यही वह प्राप्ति है जो नियति की अनुकम्पा से हमें इस संघर्ष में मिली है, यह काम हम ज्यों ही पूरा कर लेंगे हमारा दायित्व खत्म हो जायेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आने वाली पीढ़ियों को देश सेवा के कार्य में सफलताएं मिलती रहेंगी। हमें, यानी वर्तमान पीढ़ी के लोगों को अपनी असफलताओं के बावजूद उसकी सेवा करके संतुष्ट होना ही चाहिए, क्योंकि वे असफलताएं कठोर भले ही हों, शक्ति उन्हीं से फुटेगी जिससे अंततः महान् कार्य पूरे होंगे।